Digitized by eGangotri

सत्याग्रह की संस्कृति

009

नन्दकिशोर आचार्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सत्याग्रह की संस्कृति

SPS Central Library
Acc No. ....
Srinagar

नन्दकिशोर आचार्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यशदेव शल्य के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनुक्रम

संस्कृति है सत्याग्रह	9
अहिंसा का आग्रह	13
आज़ादी का वह संकल्प कहाँ गया	17
साम्यवाद का विकल्प पूँजीवाद नहीं	22
आसक्ति और आनन्द का फ़र्क	26
गाँधीवाद और राजसत्ता	30
'महासागरीय वृत्त' की राष्ट्रीय एकता	33
अहिंसा की सामाजिक प्रौद्योगिकी	41
आध्यात्मिक नारीवाद की प्रस्तावना	47
सत्याग्रही राज्य	52
शिक्षा में सत्याग्रह	57
सत्याग्रही विकास की ज़रूरत	61
विकास की वैकल्पिक अवधारणा	65
विकेन्द्रीकरण का नया मिथ	69
सत्याग्रही प्रौद्योगिकी की ज़रूरत	72
न्यासिता : व्यावहारिक और न्यायोचित	76
अर्थसत्ता का लोकतन्त्रीकरण	80
स्वदेशी ही विकल्प है	83
सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है श्रम	87
गाँधीजी का उत्तराधिकार	91

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महात्मा गाँधी का अकेलापन	94
गाँधी-सुभाष के मतभेदों का सच	98
अम्बेडकर ऐकान्तिक थे और गाँधी समावेशी	102
गाँधी, अम्बेडकर और दलित	107
गाँधीवाद : गाँधी के बाद	111
वैज्ञानिक आध्यात्मिकता : एम.एन. राय	117
अध्यात्म की वैज्ञानिकता का अर्थ : विनोबा	121
गाँधी और राय के संवाद की ज़रूरत	125
निर्दलीय लोकतन्त्र ही विकल्प है	129
जैनेन्द्र का गाँधीत्व	133
यदि मार्क्सवाद विज्ञान है	137
संवेदनात्मक सत्याग्रह है साहित्य	141

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संस्कृति है सत्याग्रह

सत्याग्रह का तात्पर्य, सामान्यतः, अन्याय के अहिंसात्मक प्रतिरोध से लिया जाता है, जो निश्चय ही इस का एक आयाम—और ज़रूरत पड़ने पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृश्यमान आयाम है। यह भी ठीक है कि इस पद का आविष्कार एक शताब्दी पूर्व महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने अहिंसात्मक संघर्ष के दौर में किया और अनन्तर भारतीय स्वाधीनता संघर्ष का केन्द्रीय आधार भी सत्याग्रह ही रहा। स्वाधीनता मिलने के बाद भी राजनीतिक प्रतिरोध के एक उपाय के रूप में इस का इस्तेमाल वे लोग भी करते आये हैं जो, अन्यथा, महात्मा गाँधी के विचारों से घोषित असहमति रखते रहे हैं। ऐसे लोगों के लिए भी सत्याग्रह के विविध रूप एक प्रभावी रणनीति के रूप में स्वीकार्य रहे हैं। सच तो यह है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में कांग्रेस ने भी सत्याग्रह को एक रणनीति के रूप में ही स्वीकार किया था, जब कि महात्मा गाँधी के लिए सत्याग्रह एक जीवन-दृष्टि, एक संस्कृति था।

संस्कृति सत्य का अन्वेषण है—केवल वैचारिक नहीं, अनुभूत्यात्मक अन्वेषण अर्थात् जीवन-प्रक्रिया। लेकिन सत्य क्या है, इसे ले कर कोई निश्चित और एकायामी धारणा नहीं स्वीकार की जा सकती। सभी दर्शन और धर्म-सम्प्रदाय सत्य के अन्वेषण की प्रक्रिया में ही विकसित होते हैं, लेकिन, सत्य की उन की अवधारणाएँ इतनी भिन्न, बल्कि विपरीत होती हैं कि उन में एकसूत्रता खोज पाना लगभग असम्भव हो जाता है।

ऐसी स्थिति में सत्य के आग्रह का तात्पर्य क्या किसी एक दर्शन या धर्म-सम्प्रदाय या जीवन-पद्धति के अपने सत्य का आग्रह ही नहीं हो जाता? वह क्या चीज़ है जो धारणाओं की भिन्नता के बावजूद जीवन को चलाये रखती है? एक तरह से क्या वही सत्य नहीं है? महात्मा गाँधी भी यह तो स्वीकार करते ही हैं कि सत्य के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनन्त रूप हो सकते हैं और इस लिए किसी एक रूप को दूसरे पर वरीयता देना भी सही नहीं कहा जा सकेगा। वह भी यह समझते हैं कि *निरपेक्ष सत्य को जानना मनुष्य के वश की बात नहीं है*—और अब तो विज्ञान भी इसे लगभग स्वीकार कर चुका है—इस लिए यह मानने के सिवा कोई चारा नहीं रहता कि मनुष्य का कर्तव्य यह है कि, *सत्य जैसा उसे दिखायी दे, उस का अनुगमन करे और ऐसा करते समय शुद्धतम साधन अर्थात् अहिंसा को अपनाये*—क्यों कि अहिंसा ही वह साधन है जो सत्य के विभिन्न रूपों के अस्तित्व को स्वीकार करता है और यही वह उपाय है जिस से विभिन्न धारणाओं के पारस्परिक विरोध के बावजूद जीवन चलता रह सका है।

इस लिए गाँधीजी के विचारानुसार सत्य के आग्रह का तात्पर्य अहिंसा का आग्रह है। जब अहिंसक प्रतिरोध की बात की जाती है तो उस में भी बलबिन्दु प्रतिरोध से अधिक अहिंसा पर है। प्रतिरोध तो प्रसंगवश करना पड़ सकता है, लेकिन अहिंसा वह बोध है जो हर स्थिति में वांछनीय अर्थात् सनातन मूल्य है। अहिंसा की इस सनातनता का आग्रह ही सत्याग्रह है।

अहिंसा, शब्द के निषेधात्मक रूप के बावजूद, एक धनात्मक बल्कि रचनात्मक बोध है। इस लिए अन्याय के प्रतिरोध के साथ-साथ वह अविरोध का बोध भी है। सत्याग्रह का लक्ष्य एवं प्रकार्य त्रिआयामी होता है। सत्याग्रह में अन्याय का प्रतिरोध या उसे मिटाना तो है ही; साथ ही, इस प्रक्रिया से गुज़रते हुए वह सत्याग्रही के नैतिक उत्कर्ष के साथ-साथ उस के मन में भी अहिंसा और न्याय का बोध पैदा करने की कोशिश करता है, जिसे, सामान्यतः, प्रतिपक्ष समझा जाता है। दरअस्ल, सत्याग्रह में कोई प्रतिपक्ष होता ही नहीं—क्यों कि वहाँ कोई *अन्य* नहीं होता। सत्याग्रह प्रतिपक्ष के लिए भी एक नैतिक दायित्व का अनुभव करता है क्यों कि वह अपना ही एक रूप है। ऐसा न मानने पर अहिंसा केवल रणनीति रह जाती है, जीवन-मूल्य अर्थात् सत्य नहीं। अहिंसा की अनुभूति का आधार जीवन मात्र के एकत्व की अवधारणा है, जिस का व्यावहारिक रूप सब के प्रति दायित्व का निर्वाह करना है। इस लिए जिसे हम, सामान्यतः, *अन्य* या प्रतिपक्ष कह देते हैं, उस के प्रति दायित्व के निर्वाह के बिना जीवन मात्र के एकत्व के बोध या अहिंसा की अनुभूति सम्भव ही नहीं है।

जीवन मात्र या कहें कि अस्तित्व मात्र का एकत्व केवल एक अवधारणा ही रहेगा, यदि उस का प्रतिबिम्बन या व्यावहारिक प्रतिफलन हमारे निजी एवं अन्तर्वैयक्तिक व्यवहार और सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार एवं संस्थाओं यानी आर्थिक-राजनीतिक कार्य-व्यापार आदि में भी नहीं होता है। अस्तित्व के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा असत्य है, और इस लिए उस का अहिंसात्मक प्रतिकार एवं एक अहिंसक व्यवस्था की रचना सत्याग्रह की माँग करती है। विकल्प का अन्वेषण और सिद्धि की प्रक्रिया रचनात्मक प्रतिकार है। इन्हीं अर्थों में सत्याग्रह संस्कृति हो जाता है—एक ऐसी संस्कृति जो राज्य, प्रौद्योगिकी, अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक-सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक तथा हमारे निजी और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अहिंसा का आग्रह

आधुनिक विचारकों के साथ एक ऐसे व्यक्ति को श्रेणीबद्ध करना बहुत-से लोगों को एक अन्तर्विरोध लग सकता है जिस ने आधुनिकता की बाबत पूछे जाने पर एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ कहा हो कि यह एक दिलचस्प विचार है—*इट इज एन इण्टेरेस्टिंग आइडिया*। डॉ. राधाकृष्णन् की पुस्तक *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ* के प्रकाशित होने पर सी.ई.एम. जोड ने उसे पश्चिम पर पूर्व का प्रत्याक्रमण कहा था। महात्मा गाँधी के चिन्तन को भी हम इसी तर्ज पर *आधुनिकता पर सनातनता का प्रत्याक्रमण* कह सकते हैं— बल्कि *प्रत्याक्रमण* शब्द में ध्वनित हिंसा-भाव से बचने और गाँधीजी के विचारों की आत्मा को ठीक तरह से व्याख्यायित करने की दृष्टि से इसे *आधुनिकता के सम्मुख सनातनता का सत्याग्रह* कहना अधिक संगत होगा।

सत्य का आग्रह गाँधीजी के सम्पूर्ण चिन्तन और कर्म की केन्द्रीय विषयवस्तु है और यह *सत्य* कोई जटिल दार्शनिक अवधारणा नहीं है—क्यों कि गाँधीजी शास्त्रीय दार्शनिक पद्धतियों की अधिक चिन्ता नहीं करते थे—बल्कि एक सीधी-सादी व्यावहारिक बात है। जब गाँधीजी *ईश्वर सत्य है* के बजाय *सत्य ईश्वर है* कहते हैं, तब भी वह किसी दार्शनिक बहस में उलझने के बजाय एक आध्यात्मिक ईश्वरानुभूति के व्यावहारिक रूप पर ही, उस के कर्मपक्ष पर ही ज़ोर देना चाहते हैं क्यों कि उन के लिए कर्म या व्यवहार ही चिन्तन और अनुभूति का उत्स है और कसौटी या परख भी। इसी कारण जब महात्मा गाँधी अपने जीवन को *सत्य के साथ मेरे प्रयोग* कहते हैं, तब वह प्रकारान्तर से ईश्वर-प्राप्ति के लिए उन की अनवरत साधना हो जाती है क्यों कि उन्हीं के शब्दों में—*ईश्वर की असंख्य परिभाषाएँ हैं, क्यों कि उस के रूप भी असंख्य हैं। वे मुझे विस्मय और भय से विह्वल कर देते हैं और*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पल-भर के लिए मैं स्तम्भित हो जाता हूँ। पर मैं सत्य के रूप में ही ईश्वर की पूजा करता हूँ। मैं अभी तक उसे पा नहीं सका हूँ, अभी भी मुझे उस की तलाश है। लेकिन साथ ही वह यह भी जोड़ देते हैं, *सत्य को पूर्णतः प्राप्त कर लेना अपने-आप को और अपनी नियति को उपलब्ध कर लेना है, अर्थात् सर्वसम्पूर्ण हो जाना है। मैं तो अपनी अपूर्णताओं को जानता हूँ और इसी में मेरी सारी शक्ति निहित है।*

दार्शनिक जटिलताओं के बजाय ईश्वरत्व की अवधारणा अर्थात् सत्य की संकल्पना के व्यावहारिक पहलू पर आग्रह की ही वजह से गाँधीजी कहते हैं कि—*मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और नैतिकता है, ईश्वर निर्भयता है, ईश्वर जीवन और आलोक का स्रोत है....ईश्वर अन्तरात्मा है।* और इस ईश्वर को पाने का एक ही उपाय है कि—*उसे उस की सृष्टि में देखा और उस के साथ एकाकार हुआ जाय।*

गाँधीजी के सत्य-चिन्तन का व्यावहारिक पहलू इसी लिए अहिंसा के रूप में अभिव्यक्ति पाता है क्यों कि सम्पूर्ण सृष्टि के साथ अहिंसात्मक मनोवृत्ति और आचरण ही हमें उस के साथ अर्थात् ईश्वर के साथ एक करता है। वह स्वयं कहते हैं—*जब आप सत्य को ईश्वर-रूप में पाना चाहते हैं, तो एकमात्र अनिवार्य साधन प्रेम, अर्थात् अहिंसा है। और क्यों कि मैं मानता हूँ कि साधन और साध्य पर्यायवाची हैं, अतः मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि ईश्वर प्रेम है।*

गाँधीजी की ये दार्शनिक प्रस्थापनाएँ ही उन के सामाजिक चिन्तन का विन्यास करती हैं। सत्य अहिंसा के रूप में अभिव्यंजित होता है, अतः एक आदर्श समाज-व्यवस्था और उस के प्रत्येक व्यक्ति सदस्य के आचरण की कसौटी भी अहिंसा ही हो सकती है—स्थूल और नकारात्मक अर्थों में नहीं, बल्कि सूक्ष्म और सकारात्मक अर्थों में। इसी लिए गाँधीजी किसी भी प्रकार की पराधीनता को—चाहे उस का रूप राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या मनोवैज्ञानिक कुछ भी हो—अनुचित और अन्यायपूर्ण मानते हैं क्यों कि वह किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा पर टिकी होती है और हिंसक मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है। किसी भी प्रकार का राजनीतिक दमन, सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण—चाहे वह मनुष्य का हो या प्रकृति का—गाँधीजी के अनुसार हिंसा के ही विभिन्न रूप हैं और इसी लिए वह उन के ख़िलाफ़ सत्याग्रह अर्थात् अहिंसा का आग्रह करते हैं। इसी कारण, एक ओर, गाँधीजी केन्द्रीकृत आर्थिक व्यवस्था और आधुनिक प्रौद्योगिकी को हिंसक मान कर त्यागने का आग्रह करते हैं क्यों कि वह अनिवार्यतया मनुष्य और प्रकृति के अन्यायपूर्ण दोहन पर आधारित है, तो दूसरी ओर, केन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था को भी हिंसक मानते हैं क्यों कि वह अनिवार्यतया नागरिक को राजतन्त्र के सम्मुख असहाय बनाती और उस की स्वतन्त्रता का दमन करती है।

इस लिए यह स्वाभाविक है कि गाँधीजी एक ऐसी समाज-व्यवस्था की कल्पना करते हैं जिस में सत्ता के किसी भी रूप का केन्द्रीकरण न हो, क्यों कि केन्द्रीकरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनिवार्यतः हिंसा की मनोवृत्ति को बढ़ाता है। इसी लिए गाँधीजी की समाज-व्यवस्था की आदर्श इकाई आत्मनिर्भर गाँव है—इसी को राजनीति और अर्थशास्त्र की भाषा में राजनीतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण कहा जाता है। आत्मनिर्भर या स्वावलम्बी गाँव ही एक आत्मनिर्भर और अहिंसक राष्ट्र का आधार हो सकता है क्यों कि हिंसा की ज़रूरत भी तभी पड़ती है जब हम किसी अन्य पर अनिवार्यतया आश्रित हों। लेकिन ज़ाहिर है कि एक अहिंसक समाज और आत्मनिर्भर गाँव के लिए हमें अहिंसक आचरण वाले आत्मनिर्भर या स्वावलम्बी व्यक्ति की आवश्यकता होगी।

एक अहिंसक समाज के लिए अहिंसक स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण—गाँधीजी का सम्पूर्ण शिक्षा-दर्शन इसी उद्देश्य को विन्यस्त करता है। जिसे हम *बुनियादी शिक्षा* या *नयी तालीम* के नाम से जानते हैं, उस का प्रमुख उद्देश्य चिन्तन, अनुभूति और कर्म में एक अहिंसक व्यक्ति का निर्माण करना है। सामान्यतः, बुनियादी शिक्षा को *लर्निंग बाइ डूइंग* या *कर के सीखो* तक सीमित कर उसे कुछ दस्तकारियों आदि की शिक्षा मान लिया जाता है। निश्चय ही वह आजीविका-कौशल की भी शिक्षा है—जो हर शिक्षा-पद्धति को निश्चय ही होना चाहिए—लेकिन उस का वास्तविक उद्देश्य एक ऐसे स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण करना है जिस का अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ—प्राकृतिक और मानवीय, दोनों तरह के परिवेश के साथ—अहिंसात्मक और सर्जनात्मक रिश्ता हो। गाँधीजी की शिक्षा-प्रक्रिया का उद्देश्य आत्मनिर्भर व्यक्ति का विकास है, अतः यह ज़रूरी है कि उस की प्रक्रिया भी आत्मनिर्भर हो अर्थात् शिक्षार्थी की शिक्षा का व्यय-भार वह स्वयं उठा सके। साधन और साध्य यदि एक हैं तो आत्मनिर्भर व्यक्ति और समाज का साध्य निश्चित करने वाली शिक्षा को अपनी प्रक्रिया में भी अहिंसक और आत्मनिर्भर होना होगा।

गाँधीजी के शिक्षा-चिन्तन को आजकल आधुनिक प्रौद्योगिकी और जटिल विज्ञान से आकर्षित समाजशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों और शिक्षाशास्त्रियों द्वारा एक ख़ब्त की तरह ही लिया जाता है। बुनियादी शिक्षा के प्रयोग को व्यापक समाज के लिए असफल मान लिया गया है और अब केवल कुछ गाँधीवादी संस्थाओं द्वारा ही उसे एक कर्मकाण्ड की तरह किया जा रहा है—समाज में प्रचलित और स्वीकृत शिक्षा-संस्थाएँ सामान्य तौर पर उस से अपने को अलग ही रखे हुए हैं। लेकिन यहाँ यह विचारणीय है कि कोई भी शिक्षा-पद्धति तभी सफल हो सकती है जब हम उस की पृष्ठभूमि में काम कर रहे तत्त्व-दर्शन और मूल-दर्शन के अनुरूप समाज-रचना करना चाहें। दुर्भाग्य से हम स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद जिस सामाजिक ढाँचे की ओर आकर्षित होते गये हैं, वह एक हिंसक मनोवृत्ति वाले समाज का ढाँचा है, जो राज्यसत्ता और अर्थसत्ता के केन्द्रीकरण पर टिका है, तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आश्रित होने की वजह से प्रकृति और परिवेश के साथ मूलतः हिंसक मनोवृत्ति रखता तथा मनुष्य को असहाय बनाता और उस की स्वनिर्भरता का दमन करता है। गाँधीजी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के शिक्षा-चिन्तन की सार्थकता तभी समझ में आ सकती है जब हम एक अहिंसक और आत्मनिर्भर समाज और व्यक्ति के विकास का लक्ष्य सामने रख कर चलें और केवल शिक्षा-प्रक्रिया को ही नहीं, अपनी राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं और व्यवहार को भी तदनुसार रूपान्तरित करने का *सत्याग्रह* करें। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुमाकर का यह कथन विचारणीय है कि *हम दरअस्ल एक तत्त्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इस लिए इस का इलाज भी तत्त्वमीमांसीय होना चाहिए।* गाँधीजी का चिन्तन हमारे इस रोग का सही निदान और इलाज बताता है और यह कहना शायद अब ज़रूरी नहीं है कि रोग के कारणों को मिटाये बिना कोई उपचार सफल नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आज़ादी का वह संकल्प कहाँ गया

आज़ादी की लड़ाई के दौरान *पूर्ण स्वराज्य* का लक्ष्य तय कर लेने पर महात्मा गाँधी ने एक संकल्प का मसविदा तैयार किया था, जो 1930 से लेकर 1947 तक हर वर्ष 26 जनवरी के दिन दोहराया जाता था। आज़ादी के इस संकल्प में महात्मा गाँधी ने लिखा था कि *दूसरे राष्ट्रों की तरह भारतवासियों का भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे आज़ाद हो कर रहें, अपनी मेहनत का फल ख़ुद भोगें और जीवन-निर्वाह के लिए जो आवश्यक है वह सब सामग्री और सुविधाएँ उन्हें प्राप्त हो, जिस से उन को विकास का पूरा मौक़ा मिले। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है और उस का दमन करती है तो लोगों का यह भी अधिकार है कि वे उस सरकार को बदल दें या समाप्त कर दें।* स्पष्ट है कि आज़ादी के इस संकल्प में गाँधीजी आज़ाद हो कर रहने, अपनी मेहनत का फल ख़ुद भोगने और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाओं को जनता का *जन्मसिद्ध अधिकार* मानते हैं और उस सरकार को बदल देने की माँग करते हैं जो जनता को इन अधिकारों से वंचित रखती है। राजनीतिक आज़ादी मिलने के बाद आज तक केन्द्र में एक छोटी-सी अवधि को छोड़ कर एक ही दल का शासन रहा है और उस दल की नीतियाँ भी कमोबेश वही रही हैं जो पहले प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा स्थापित की गई थीं। जनता शासन के दौरान भी बुनियादी नीतियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं दिखायी दिया था। जयप्रकाशजी की सम्पूर्ण-क्रान्ति की उद्घोषणा के बावजूद आर्थिक-सामाजिक विकास का ढाँचा नेहरूवादी आधुनिकतावाद के ढर्रे पर ही घिसटता रहा था। उदारीकरण और वैश्वीकरण के अनुकरण के साथ इस ढाँचे में सामाजिकता का आभास भी लुप्त होता जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आज़ादी के इतने वर्ष बाद भी यदि जनता को ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं जिन्हें हमने आज़ादी के संकल्प में *जन्मसिद्ध अधिकार* माना था और आज भी जनता की मेहनत का फल चन्द सम्पन्न लोग भोग रहे हैं और इन सरकारी और ग़ैर-सरकारी सम्पन्न लोगों की बेईमानी को बेपरदा करने के प्रयासों का दमन करने की कोशिश की जा रही हो, तो समझ लेना चाहिए कि आज़ादी के संकल्प को दोहराने का वक़्त फिर आ गया है।

लेकिन क्या सरकार को बदल देना एक पर्याप्त विकल्प है? यह ठीक है कि एक सरकार दूसरी किसी सरकार से कम या ज़्यादा उदार या अनुदार हो सकती है, और उस की उदारता की मात्रा के अनुसार आज़ाद हवा में साँस लेने का हमारा अधिकार कम या ज़्यादा होता रह सकता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि जब तक विकल्प के रूप में आयी सरकार के बुनियादी आधार वही रहते हैं, जो उस से पहले की सरकार के थे, तब तक हमें उस से किसी बुनियादी परिवर्तन की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। जब तक बुनियादी दृष्टि में बदलाव सम्भव नहीं होता, तब तक पूर्व-दृष्टि के कारण आने वाली विकृतियों से बचना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। व्यक्तिगत ईमानदारी सार्वजनिक जीवन में एक अनिवार्य नैतिक आवश्यकता है, लेकिन अनिवार्यतया बेईमानी पर टिकी व्यवस्था में यह ख़तरा बराबर बना रहता है कि वह किसी ईमानदार नेतृत्व को भी बेईमान होने के लिए मजबूर कर दे। हमें यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि नेता के रूप में हमें हमेशा सन्त ही मिलते रहेंगे। इस लिए जब हम विकल्प के बारे में सोचें तो केवल सरकार के विकल्प के बारे में ही नहीं, पूरी व्यवस्था के विकल्प के बारे में सोचना अधिक ज़रूरी है। आज़ादी के संकल्प में गाँधीजी ने लिखा था कि *अंग्रेज सरकार ने न केवल भारतवासियों को उन की आज़ादी से वंचित किया है, बल्कि उन के शोषण पर ही उस का आधार है। उस ने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारत का विनाश किया है। इस लिए हमें इस बात का विश्वास हो गया है कि भारतवर्ष को अंग्रेजी राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर के पूर्ण स्वराज्य हासिल कर लेना चाहिए।* अंग्रेज़ों ने भारत का यह विनाश एक राज्य-व्यवस्था के माध्यम से किया था—एक ऐसी राज्य-व्यवस्था के माध्यम से, जो ब्रिटिश पूँजीवाद का औज़ार थी। इस लिए ज़ाहिर है कि पूर्ण स्वराज्य भी केवल ब्रिटिश राज्य से ही नहीं, बल्कि ब्रिटिश-शैली की राज्य-व्यवस्था से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर ही मिल सकता था। दुर्भाग्य से ब्रिटिश राज्य के जाने के बाद भी जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हमने ब्रिटिश-शैली की राज्य-व्यवस्था को ही बनाये रखा और स्पष्ट है कि इस के परिणाम भी तब वही हो सकते थे जिन का स्पष्ट संकेत गाँधीजी ने कर दिया था—भारत का आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विनाश।

उदाहरण के लिए, ब्रिटिश संसद के बारे में प्रकट किये गये गाँधीजी के विचारों को ले सकते हैं—क्यों कि यह संसदीय प्रणाली हमें ब्रिटिश राज्य-व्यवस्था की प्रमुख विरासत के रूप में मिली है—और देख सकते हैं कि वे विचार हमारी अपनी संसदीय प्रणाली पर कितने सटीक बैठते हैं। 1908 में *हिन्द स्वराज्य* में ब्रिटिश राज्य-व्यवस्था के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त करते हुए गाँधीजी ने लिखा था, *इंग्लैण्ड में आज जो हालात*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हैं वे सचमुच दयनीय, तरस खाने लायक़ हैं। मैं तो भगवान से यही माँगता हूँ कि हिन्दुस्तान की ऐसी हालत कभी न हो। जिसे आप पार्लियामेण्टों की माता कहते हैं, वह पार्लियामेण्ट तो बाँझ और वेश्या है। ये दोनों शब्द बहुत कड़े हैं, तो भी उस पर अच्छी तरह लागू होते हैं। मैंने उसे बाँझ कहा, क्यों कि अब तक उस पार्लियामेण्ट ने अपने-आप एक भी अच्छा काम नहीं किया। अगर उस पर ज़ोर-दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे, ऐसी उस की क़ुदरती हालत है। और वह वेश्या है क्यों कि जो मन्त्रिमण्डल उसे रखे, उस के पास वह रहती है। आज उस का मालिक एस्क्विथ है, तो कल बालफ़र होगा और परसों कोई तीसरा। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए गाँधीजी ने लिखा कि *पार्लियामेण्ट हमेशा प्रधानमन्त्री के अधीन रहती है और प्रधानमन्त्री पार्लियामेण्ट की परवाह करने के बजाय अपने दल को बलवान करने के लिए उस से मनमाने काम करवाता है।* उन्होंने लिखा कि *मुझे प्रधानमन्त्रियों से द्वेष नहीं है, लेकिन तजुर्बे से मैंने देखा है कि वे सच्चे देशाभिमानी नहीं कहे जा सकते। जिसे हम घूस कहते हैं, वह घूस वे खुल्लमखुल्ला नहीं लेते-देते, इस लिए भले ही वे ईमानदार कहे जायें, लेकिन उन के पास वसीला काम कर सकता है। वे दूसरों से काम निकालने के लिए उपाधि वग़ैरह की घूस बहुत देते हैं। मैं हिम्मत के साथ कह सकता हूँ कि उन में शुद्ध भावना और सच्ची ईमानदारी नहीं होती।*

पार्लियामेण्ट प्रधानमन्त्री या मन्त्रिमण्डल के कितना अधीन रहती है, इस का एक प्रमाण कुछ अरसा पहले हमारी लोकसभा में पारित मानहानि विधेयक है। दलीय व्यवस्था में बहुमत दल का निर्णय ही पार्लियामेण्ट का निर्णय माना जाता है और दलीय पूर्वग्रह इस हद तक काम करते हैं कि सत्तारूढ़ दल के अतिरिक्त किसी अन्य दल या सदस्य द्वारा रखा गया कोई भी प्रस्ताव, चाहे वह कितना ही उचित क्यों न हो—स्वीकार नहीं किया जा सकता और सत्तारूढ़ दल के सदस्य अपनी सरकार द्वारा रखे गये प्रस्ताव को स्वीकार करने को बाध्य हो जाते हैं। क्या मानहानि विधेयक को ले कर लोकसभा का व्यवहार ऐसा ही नहीं था? विरोधी दलों के समवेत विरोध के बावजूद एक ही दिन में इस विधेयक को पारित कर दिया गया। बाद में यदि सरकार ने कुछ पुनर्विचार के बाद इस विधेयक को छोड़ देने का फ़ैसला किया तो लोकसभा को वह भी स्वीकार्य था। तब क्या मतदाताओं को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों से यह नहीं पूछना चाहिए कि उन का अपना स्वतन्त्र मत क्या है? यदि वे विधेयक को ग़लत मानते थे या उस में कुछ संशोधन चाहते थे तो उन्होंने उस का समर्थन क्यों किया और यदि विधेयक ठीक था तो वे उसे संशोधित करने या उसे छोड़े जाने का समर्थन क्यों कर रहे थे?

क्या उन्होंने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि और व्यक्तित्व को किसी प्रधानमन्त्री या मन्त्रिमण्डल के पास गिरवी रख दिया है? पार्लियामेण्ट के सदस्य के रूप में उन का उत्तरदायित्व किस के प्रति है—अपने मतदाताओं के प्रति या सरकार के प्रति? अगर यह बात मान भी लें कि दलबदल विरोधी क़ानून के कारण दल के किसी भी ग़लत प्रस्ताव का विरोध करने पर उन की सदस्यता समाप्त हो सकती है, तो भी उन से यह सवाल तो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

किया ही जाना चाहिए कि वे अपनी स्वतन्त्रता और मतदाताओं के प्रति अपने दायित्व को अधिक महत्त्व देते हैं या संसद की सदस्यता के नाते मिलने वाली तनख़्वाह और अन्य सुविधाओं को? ये सवाल किसी एक संसद सदस्य की राजनीतिक मूल्य-चेतना और व्यक्तिगत ईमानदारी पर ही नहीं, सम्पूर्ण संसदीय व्यवस्था की राजनीतिक प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

लेकिन विकल्प का सवाल केवल राजनीतिक व्यवस्था का सवाल ही नहीं है। वह एक वैकल्पिक जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठा का सवाल है। जिस विकास-दृष्टि को हम अपनी जीवन-दृष्टि के रूप में स्वीकार करने की ओर बढ़ते जा रहे हैं और हमारे कथित नेतृत्व ने तो उसे स्वीकार कर ही रखा है, उस के चलते हम किसी बेहतर राज्य-व्यवस्था की कल्पना भी नहीं कर सकते। वर्तमान राज्य-व्यवस्था एक ख़ास क़िस्म की केन्द्रीकृत और मुनाफ़ाख़ोर आर्थिक प्रक्रिया और उस के पीछे कार्यरत सभ्यता-दृष्टि का परिणाम है—उस सभ्यता-दृष्टि का, जिस के लिए सभ्यता का तात्पर्य दूसरों की क़ीमत पर अपनी सम्पन्नता का विस्तार है। यूनानी नगर राज्यों के ज़माने से ले कर आज तक पश्चिम की मुख्य दृष्टि यही रही है। स्वयं अरस्तू ने लिखा है कि *सभ्यता का अर्थ है सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि, व्यवस्था और रक्षा।* प्रचलित विकास-दृष्टि सभ्यता की इसी परिभाषा को स्वीकार किये हुए है और हमने भी इसी विकास-दृष्टि को अविचारित ही स्वीकार कर रखा है। इसी बात को पहचानते हुए गाँधीजी ने लिखा था कि *यदि हिन्दुस्तान अंग्रेज प्रजा की नकल करे तो हिन्दुस्तान पामाल हो जायेगा* क्यों कि वह सभ्यता नुक़सानदेह है और उस से यूरोप की प्रजा ख़ुद पामाल होती जा रही है।

स्पष्ट है कि इस सभ्यता-दृष्टि को बदले बिना हम अपनी राज्य-व्यवस्था को भी नहीं बदल सकते क्यों कि यह राज्य-व्यवस्था इसी आधुनिकतावादी विकास प्रक्रिया का एक अनिवार्य परिणाम है। सरकार को बदलना एक तात्कालिक राहत जैसा ही सिद्ध हो सकता है और यह भी लगभग तय है कि इस आर्थिक-राजनीतिक प्रक्रिया के चलते कोई नयी सरकार भी इस की विकृतियों से अधिक समय तक नहीं बची रह सकेगी। कहा जा सकता है कि ऐसा होने पर उस सरकार को भी बदल दिया जा सकता है, लेकिन यह गौरतलब है कि इस प्रकार समाज एक दुश्चक्र में फँस जाता है, जिस में वह एक अयोग्य और बेईमान सरकार के चंगुल में फँसता रह कर एक दयनीय असहायता की स्थिति में पहुँच जाता है।

लेकिन इस का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी बीमारी को तात्कालिक राहत नहीं पहुँचाएँ। लम्बे इलाज के लिए भी तात्कालिक राहत की ज़रूरत होती है—पर उसे बीमारी का स्थायी इलाज मानने की भूल नहीं होनी चाहिए। जिन नेताओं को ईमानदार मान कर हम उन में विकल्प ढूँढ़ रहे हैं, उन की ईमानदारी की एक परख इस में भी होगी कि वे इस बेईमान बनाने वाली व्यवस्था को बदलने में कितनी रुचि व सक्रियता दिखाते हैं। पर यह ज़रूरी नहीं है कि वे इस में रुचि दिखायें। वे भी कई तरह की मजबूरियों के बहाने से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इसी व्यवस्था को चालू रखने में रुचि लेते रह सकते हैं क्यों कि उन के हाथों में जो अपरिमित शक्ति आ जाती है, वह भी तो इसी सभ्यता-दृष्टि और राज्य-व्यवस्था के ही कारण है। इस लिए यह ज़्यादा स्वाभाविक है कि उन का असली प्रयोजन भी इसी व्यवस्था को चालू रखना रहे और एक उदारवादी मुखौटा पहन कर वे अपनी असली नीयत को छुपा कर अपने को अधिक लोकतान्त्रिक दिखाने की कोशिश करें और हमें क़ानून पालन करने की सलाह देते रह कर अपने शासन के शिकंजे को कसते रहें। दरअस्ल, स्वतन्त्रता का कोई सीधा और आसान रास्ता नहीं होता। वह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे एक बार प्राप्त कर लेने पर हम बिना किसी कोशिश के हमेशा अपने पास रख सकें। हमें हर पल अपनी स्वतन्त्रता की पुष्टि के लिए सजग रहना पड़ता है, नहीं तो हम स्वतन्त्र नहीं रह सकते—ख़ास तौर पर एक ऐसी सभ्यता में, जो सम्पत्ति के विस्तार के लिए स्वतन्त्रता को अपना पहला शिकार बनाती है—प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरह। राज्य चाहे कितने ही अन्यायपूर्ण क़ानून बनाये—वह जनता से यही अपेक्षा करता है कि वह चुपचाप उस का पालन करेगी और यदि वह ऐसा नहीं करेगी तो राज्य को उस का दमन करना होगा। लेकिन गाँधीजी का कहना है कि *क़ानून हमें पसन्द न हो तो भी उन के मुताबिक चलना चाहिए—यह सिखावन मर्दानगी के ख़िलाफ़ है, धर्म के ख़िलाफ़ है और ग़ुलामी की हद है। .....अगर लोग एक बार सीख लें कि जो क़ानून हमें अन्यायी मालूम हो, उसे मानना नामर्दगी है, तो हमें किसी का भी ज़ुल्म बाँध नहीं सकता। यही स्वराज्य की कुंजी है।* और स्वराज्य की यह धारणा ही आज की व्यवस्था के वास्तविक विकल्प की खोज और उस की प्रतिष्ठा का सही आधार हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

साम्यवाद का विकल्प पूँजीवाद नहीं

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप में साम्यवादी व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने के बाद यह सवाल उठाया जाना चाहिए था कि क्या शोषणमुक्त समाज का सपना भी ध्वस्त समझ लिया जाय? यदि साम्यवाद एक सही विकल्प नहीं दे सका तो क्या इस का मतलब पूँजीवादी व्यवस्था की अपरिहार्यता है? सोवियत रूस और उस के अब तक सहयोगी रहे देशों की अर्थव्यवस्था में खुले बाज़ार की नीति के नाम पर जिस तरह पूँजीवादी आग्रहों का विकास हो रहा है, उसे देखते हुए क्या यह समझ लिया जाये कि जिसे हम आर्थिक-राजनीतिक शब्दावली में पूँजीवाद और समाजशास्त्रीय शब्दावली में आधुनिकतावाद कहते हैं, उस का कोई विकल्प नहीं है? क्या साम्यवादी व्यवस्थाओं के असफल हो जाने के कारण पूँजीवाद की समाजवादी आलोचना को भी व्यर्थ मान लिया जाना चाहिए?

लेकिन ऐसा है नहीं। साम्यवादी व्यवस्था के असफल हो जाने का मतलब आधुनिकतावाद या पूँजीवाद की वरेण्यता नहीं है। यदि इन व्यवस्थाओं में मानवीय संवेदना का ह्रास, शोषण-दमन-उत्पीड़न और अन्ततः एक हिंस्र मनोवृत्ति में डूबती हुई मानवता को देखा गया है तो वह अब भी गलत नहीं है। साम्यवाद की असफलता पूँजीवाद की वरेण्यता का प्रमाण नहीं हो सकती। इस लिए इस आधुनिकतावादी पूँजीवाद के विकल्प की तलाश की प्रासंगिकता और भी बढ़ जाती है। हमारे लोकतान्त्रिक समाजवादी मित्र इस बात पर खुश हो सकते हैं कि पूँजीवाद की अवांछनीयता और साम्यवाद की असफलता ने अन्ततः उन्हें सही साबित किया है और अब एकमात्र विकल्प लोकतान्त्रिक समाजवाद ही है। लेकिन अपने को लोकतान्त्रिक समाजवादी कहने वाली व्यवस्थाओं द्वारा जो कुछ किया जाता रहा है, उस से क्या अब तक यह स्पष्ट ज़ाहिर नहीं हो जाता कि वह अधिक-से-अधिक पूँजीवाद का ही एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपेक्षाकृत उदार और मानवीय भंगिमा ओढ़े चेहरा है जिस की सफलता कथित तीसरी दुनिया के देशों से असमान शर्तों पर किये जाने वाले व्यापार पर टिकी है?

लेकिन तब विकल्प क्या हो सकता है? मार्क्सवादी समाजवाद और लोकतान्त्रिक समाजवाद, दोनों की सब से बड़ी ख़ामी यह रही है कि उन्होंने पूँजीवाद को उस के अपने मैदान पर और उस के अपने अस्त्रों से ही पराजित करना चाहा। मार्क्सवादी अवधारणा का केन्द्रीय बलबिन्दु यह है कि उत्पादन के साधनों के कारण उत्पादन-सम्बन्धों में परिवर्तन होता है और उस से सामाजिक-राजनीतिक अधिरचना बदलती है, लेकिन मार्क्सवादी दर्शन को स्वीकार करने वाले समाजों में क्रान्ति के बाद भी उत्पादनों के साधनों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया और रूसी समाज उसी प्रौद्योगिकी को अपनाने और विकसित करने पर ज़ोर देता रहा, जिस के आधार पर पश्चिमी आधुनिकतावादी पूँजीवाद का विकास हुआ था। इस लिए यदि आज साम्यवादी कहे जाने वाले समाजों में पूँजीवादी व्यवस्था के लक्षण अपनी सभी विकृतियों सहित विकसित हो रहे हैं तो इस पर कम-से-कम किसी मार्क्सवादी विश्लेषक को तो आश्चर्य नहीं ही होना चाहिए। लेकिन उन्हें यह आश्चर्य इस लिए होता है कि स्वयं मार्क्स अपने विचारों के इस अन्तर्विरोध को नहीं समझ पाये थे और समाजवादी क्रान्ति के लिए पूँजीवादी प्रौद्योगिकी के विकास को अनिवार्य मानते थे। मार्क्स ने पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों के कारण साम्यवाद का विकास होने की अपरिहार्यता पर तो बल दिया, लेकिन उस के *बेस* का काम करने वाली और मानवीय समानता की ओर उन्मुख करने वाली किसी वैकल्पिक प्रौद्योगिकी के विकास की आवश्यकता पर उन का ध्यान नहीं गया। इसी लिए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि सभी क़िस्म के मार्क्सवादी, आधुनिकतावादी या पूँजीवादी प्रौद्योगिकी को ही विज्ञान समझने की अवैज्ञानिक समझ के शिकार हुए और वैकल्पिक व मानवपरक प्रौद्योगिकी को रूढ़िवाद, प्रतिक्रियावाद और अवैज्ञानिक मानसिकता कह कर तिरस्कृत करने का दम्भ करते रहे। इसी का परिणाम यह हुआ कि पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने उसी प्रौद्योगिकी और राज-तन्त्र को आधार बनाया, जो वस्तुतः पूँजीवादी व्यवस्था के मूलाधार थे। ज़ाहिर है कि वैकल्पिक समाज बनाने के उन के प्रयत्न इसी लिए अन्ततः पूँजीवादी व्यवस्था के पुनः विकास में ही फलीभूत हुए।

इस लिए स्पष्ट है कि यदि शोषण और दमन-उत्पीड़न से मुक्त समाज के सपने को किसी सीमा तक सच होना है तो एक वैकल्पिक प्रौद्योगिकी और राज्यतन्त्र के विकास की दिशा में प्रयत्नशील होना होगा। गाँधीजी इस बात को अच्छी तरह समझते थे और इसी लिए उन्होंने आधुनिकतावादी प्रौद्योगिकी पर आश्रित सभ्यता को शैतानी सभ्यता और संसदीय लोकतन्त्र को बाँझ और वेश्या कह कर परिभाषित किया था। मूलतः देसी प्रौद्योगिकी पर आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और पारम्परिक सामाजिक विवेक पर आधारित विकेन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत पर यदि उन्होंने लगातार बल दिया तो इस का कारण यही था कि वे इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
आधुनिकतावादी प्रौद्योगिकी पर आश्रित सभ्यता में किसी तरह की न्यायपूर्ण आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था की सम्भावना नहीं की जा सकती।

गाँधीजी को पूँजीवाद का सहयोगी बताने वाले मार्क्सवादी आलोचक इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते कि वे जिस प्रौद्योगिकी का आग्रह कर रहे हैं, उस में किसी तरह के पूँजीवाद का विकास सम्भव ही नहीं है। पूँजीवाद अनिवार्यतया साधनों के केन्द्रीकरण पर आधारित है, जब कि गाँधीजी एक ऐसी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता प्रतिपादित कर रहे थे जो अपने स्वभाव में अनिवार्यतः स्थानीय और विकेन्द्रीकृत है। अपनी ट्रस्टीशिप की अवधारणा का प्रतिपादन करते हुए भी उन्होंने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया था कि वे कारख़ानेदारों या जमींदारों की न्यायबुद्धि को जगाना चाहते हैं, लेकिन मजदूरों को हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करते रहने की ज़रूरत नहीं है बल्कि उन्हें तो एक अन्यायपूर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ तत्काल असहयोग शुरू कर देना चाहिए। राज्य को भी उन का निर्देश यही था कि यदि कारख़ानेदार एक निश्चित अवधि में ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने के लिए तैयार न हों तो बिना किसी मुआवजे के उन के कारख़ाने सामाजिक स्वामित्व में ले लिए जाने चाहिए। यहाँ इस बात को भी स्पष्ट समझ लेना ज़रूरी है कि गाँधीजी केवल भारत के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि समग्र मानव-जाति के बारे में विचार कर रहे थे। हिन्द स्वराज में आधुनिकतावादी पश्चिमी सभ्यता की जो आलोचना की गयी है, वह भारत के साथ-साथ समूची विश्व-सभ्यता से सम्बन्धित है। जो बात भारत के लिए अच्छी नहीं है, वह यूरोप के लिए ठीक कैसे हो सकती है? निश्चय ही गाँधीजी यह तो नहीं चाहते रहे होंगे कि भारत में तो देसी और विकेन्द्रीकृत प्रौद्योगिकी लागू हो और बाक़ी विश्व आधुनिकतावादी बना रहे। वे एक विचारक के साथ-साथ व्यावहारिक क्षेत्र में भी काम कर रहे थे, इस लिए अपने कार्यक्षेत्र अर्थात् भारत को ले कर उन की अधिक चिन्ता स्वाभाविक थी। पर उस चिन्ता में वे जिन मूल्यों या विचार-पद्धति का विकास कर रहे थे, उस की प्रासंगिकता सर्वव्यापी है।

इस लिए गाँधीजी जब चरखे का आग्रह करते हैं तो वह वस्तुतः देसी प्रौद्योगिकी का आग्रह है—केवल किसी भारतीय प्रौद्योगिकी का नहीं, बल्कि अलग-अलग प्रदेशों के लिए उन के अपने स्वभाव और ज़रूरतों में से उपजी प्रौद्योगिकी का आग्रह। उस का स्थूल रूप भारत के विभिन्न इलाकों के लिए ही नहीं, बल्कि बाहर के देशों के लिए अलग-अलग हो सकता है—होगा ही। लेकिन उस के पीछे काम कर रही मनोवृत्ति, प्रकृति का शोषण करने की नहीं, बल्कि उसे अपना ही एक रूप मान कर व्यवहार करने की होगी। इस आधार पर विकसित प्रौद्योगिकी ही एक ऐसी मानवपरक अर्थव्यवस्था का आधार हो सकती है, जिस में उत्पादन का प्रयोजन मुनाफ़ाख़ोरी नहीं, बल्कि ऐसे तरीक़ों से मानवीय आवश्यकता की पूर्ति है जो मनुष्य की धर्मबुद्धि के विकास की अविरोधी ही नहीं, बल्कि प्रेरक सिद्ध हो।

इस लिए मार्क्सवादी समाजवाद वाली व्यवस्थाओं के ध्वस्त होने का मतलब यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं है कि अब पूँजीवाद या उस के उदार संस्करण लोकतान्त्रिक समाजवाद के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं बचा है। ऐसा भी नहीं है कि मानवीय समानता और भाईचारे के आदर्श या एक अन्यायमुक्त समाज का सपना व्यर्थ हो गया है। मार्क्सवादी इतिहासवाद के असफल हो जाने का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि अब केवल डार्विनवादी इतिहासबोध ही एकमात्र विकल्प है। गाँधीजी की सरल प्रौद्योगिकी को पिछड़ी हुई या देहाती कह कर इतिहास का सरल से जटिल की ओर विकास मानने वालों को कम-से-कम यह समझने में भूल नहीं करनी चाहिए कि उस सरल प्रौद्योगिकी का एक अपना इतिहासबोध है कि वह हिंसा से अहिंसा की ओर विकास की प्रेरक है—उपनिषत् के शब्दों में कहें तो असत् से सत् की ओर, मृत्यु से जीवन की ओर है।

गाँधीजी को आदर्शवादी दार्शनिकों के खाँचे में बैठा कर देखने का प्रयत्न करने वाले पण्डितजन यह भूल जाते हैं कि जहाँ गाँधीजी विश्वास को महत्त्व देते थे, वहीं प्रौद्योगिकी के महत्त्व को उन्होंने मार्क्स या अन्य किसी भी भौतिकवादी विचारक की अपेक्षा अधिक बेहतर समझा था। विश्वास पर उन का ज़ोर था तो इसी लिए कि उन्होंने भौतिकवादी दार्शनिकों की तरह प्रौद्योगिकी को नीति-निरपेक्ष नहीं माना। प्रत्येक प्रौद्योगिकी के पीछे एक मनोवृत्ति भी काम करती है। इस मर्म को गाँधीजी अच्छी तरह समझते थे। मशीनों पर आधारित आधुनिकतावादी औद्योगिक सभ्यता को वे यदि शैतानी सभ्यता की संज्ञा देते थे तो उस की वजह यही थी कि गाँधीजी इस आधुनिकतावादी प्रौद्योगिकी की पृष्ठभूमि में काम कर रही लालची मनोवृत्ति को पहचान रहे थे। वे यह जानते थे कि इस प्रौद्योगिकी की पृष्ठभूमि में एक हिंसक मन काम कर रहा है और इसी कारण इस की अपनी प्रक्रिया और परिणाम समाज में स्थूल और सूक्ष्म हिंसा को बढ़ावा देने वाले ही साबित होंगे और इस प्रौद्योगिकी से जुड़ी आर्थिक व्यवस्था और राज्यतन्त्र हिंसा बढ़ाने वाले माध्यम ही सिद्ध होंगे।

यदि हमें एक अहिंसक समाज का निर्माण करना है तो उस के लिए एक अहिंसक प्रौद्योगिकी की आवश्यकता होगी। यदि हम एक समतावादी और अन्यायमुक्त समाज चाहते हैं तो उस का विकास एक ऐसी प्रौद्योगिकी से नहीं हो सकता जो अपने स्वभाव में केन्द्रीकरणवादी और हिंसक हो। एक हिंसक प्रौद्योगिकी के माध्यम से अहिंसक समाज का विकास चाहना या स्वयं मनुष्य को एक उपकरण बना डालने वाली प्रौद्योगिकी से मुक्त एक मानव की कल्पना करना घोर अवैज्ञानिक मान्यता है, जिस से अपने को वैज्ञानिक बुद्धि का समर्थक कहने वालों को तो कम-से-कम मुक्त हो ही जाना चाहिए। साम्यवाद के पतन के बाद समाज की बेहतरी चाहने वाले लोग जिस किंकर्तव्यविमूढ़ता के शिकार हो रहे हैं, उस से मुक्ति का रास्ता यदि वे अब भी नहीं पहचानते हैं तो दोष इतिहास का नहीं, उन की अपनी समझ का ही होगा। इतिहास तो अपने संकेत स्पष्ट रूप से दे ही रहा है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आसक्ति और आनन्द का .फ़र्क

भारतीय जनमानस पर आज़ादी की लड़ाई के जिन दो नेताओं का सबसे अधिक प्रभाव रहा है वे हैं महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू। आधुनिक बौद्धिक वर्ग को यह शायद एक तरह का अन्तर्विरोध दिखता होगा क्यों कि जीवन-दृष्टि और समाज-दृष्टि में इन दोनों नेताओं के विचारों में बुनियादी मतभेद हैं। कुछ लोग इसे भारतीय चित्त में आ गयी दुविधा और विभाजन की अभिव्यक्ति भी मान सकते हैं। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि दोनों नेताओं के विचारों में पारस्परिक विरोध के बावजूद भारतीय जनमानस पर पड़ने वाले दोनों के प्रभाव के पीछे लगभग एक ही कारण काम कर रहा था। और वह है भारतीय जनता के मन में दोनों के त्याग के लिए सम्मान। गाँधीजी की जीवनशैली और व्यवहार ने उन्हें सहज ही भारतीय मानस में महात्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। जवाहरलाल नेहरू का विश्वास महात्मा गाँधी के त्यागमय या निरासक्त जीवन में नहीं था, लेकिन भारतीय मानस में उन के बारे में वह मिथ गहरे में बैठ गया था कि वे एक अत्यन्त रईस ख़ानदान के हैं, जो भारतीय जनता को आज़ादी दिलाने के लिए कष्ट उठा रहे हैं। यह मिथ कितना सही था, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन आज भी गाँवों में रहने वाले बड़े-बूढ़ों के मुख से नेहरू ख़ानदान की रईसी के चर्चे और ऐशो-आराम को छोड़ कर भारतीय जनता को गुलामी के कष्टों से छुटकारा दिलवाने के लिए लड़ रहे जवाहरलाल नेहरू के इस त्याग के लिए प्यार और सम्मान का भाव दिखायी दे जाता है। शायद भारतीय जनता में जवाहरलालजी की इस लोकप्रियता ने ही महात्मा गाँधी के मन में यह भरोसा बिठाया होगा कि भारतीय जन का यह प्यार अन्ततः नेहरू की जीवन-दृष्टि में परिवर्तन ला देगा। इसी लिए तो उन्होंने जवाहरलाल को न केवल अपना उत्तराधिकारी घोषित किया, बल्कि यह भी कहा कि यद्यपि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नेहरू की भाषा उन के लिए अजनबी है, लेकिन उन्हें भरोसा है कि जब वे नहीं रहेंगे तो नेहरू भी उन की भाषा में बोलने लगेंगे।

दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। यह आमतौर पर देखा गया है कि पश्चिमी शिक्षा में दीक्षित बौद्धिक वर्ग में एक प्रकार की आत्ममुग्धता पायी जाती है और ऐसे आत्ममुग्ध व्यक्ति दूसरों के प्यार और सम्मान पर एक तरह से अपना हक़ समझने लगते हैं। इस का एक परिणाम यह होता है कि दूसरों का प्यार उन को बदलता नहीं, बल्कि वे चाहने लगते हैं कि उन्हें प्यार करने वाले उन के विचारों के अनुसार बदल जायें। ऐसा न होने पर उन में एक झुँझलाहट और खीझ उभरने लगती है, जो अपनी सारी उदार भंगिमा के बावजूद जवाहरलालजी में भी दूसरों के प्रति दिखायी दे जाती है—महात्मा गाँधी तक के प्रति। इसी लिए तो जब महात्मा गाँधी ने उन्हें ग्राम स्वराज्य की धारणा पर विचार करने और उस के अनुरूप आज़ाद भारत की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को ढालने का प्रस्ताव रखा तो जवाहरलालजी ने खीझ-भरा उत्तर दिया कि जब भारत आज़ाद हो रहा है और बड़ी-बड़ी समस्याएँ सामने खड़ी हैं तो गाँधीजी को गाँवों के सुधार पर बहस चलाने की सूझी है। इस उत्तर में गाँधीजी के प्रति एक खीझ-भरी अवहेलना है और साथ ही यह इशारा भी कि आज़ादी मिलने के साथ ही गाँधीजी का काम पूरा हो गया है और अब नये भारत का निर्माण करने का महत्त्वपूर्ण काम उन्हें जवाहरलाल पर छोड़ देना चाहिए।

लेकिन क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वैचारिक बहसों में उलझी रहने वाली पश्चिमी मनीषा से मुग्ध जवाहरलाल देश के भविष्य के बारे में गाँधीजी से बहस करने के लिए तैयार नहीं हुए। वे साम्यवादियों से बहस कर सकते थे, पूँजीवादियों से बहस कर सकते थे, लेकिन उन्हें गाँधीजी से बहस करना नहीं सुहाया। इस का एक स्थूल कारण तो यह भी हो सकता है कि गाँधीजी के विचारों का विरोध कर वे अपनी लोकप्रियता को ख़तरे में नहीं डालना चाहते थे। लेकिन इस से भी गहरा कारण शायद पश्चिमी मानस का वह मनोविज्ञान रहा है जो अपनी ही भाषा में बहस करना चाहता है क्यों कि उस से एक सुविधा यह हो जाती है कि बहुत-से परदों के पीछे छुपी धारणाओं और प्रतिमानों को आप पहले से ही स्वीकार कर चुके होते हैं। गाँधीजी से पश्चिमी शब्दावली में बहस नहीं की जा सकती थी और विलायती विचारों में दीक्षित एक छोटे-से कथित एलीट वर्ग को छोड़ दिया जाये तो अधिकांश भारतीय जनता जवाहरलाल नेहरू से भी प्यार तो करती थी पर भाषा वह गाँधीजी की ही समझती थी।

इस लिए यह अस्वाभाविक नहीं लगता कि गाँधीजी के विचारों को पूरी तरह अप्रासंगिक मान कर भारतीय समाज को पश्चिमी औद्योगिक समाज के नमूने पर ढालने का प्रयत्न करते रहने वाले जवाहरलाल नेहरू और उन के उत्तराधिकारियों की कांग्रेस गाँधीजी के आदर्शों को ही निरन्तर अपना आदर्श घोषित करती रही जब कि जिस तरह की आधुनिकतावादी आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था का ढाँचा उस ने खड़ा किया है, वह गाँधीजी के भारतीय समाज की कल्पना के ढाँचे से न केवल मिलता नहीं, बल्कि यह उस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संघर्ष को बेमानी कर देता है जो गाँधीजी ने जीवन-भर किया। गाँधीजी अंग्रेजी राज से भी ज़्यादा अंग्रेजी यानी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के ख़िलाफ़ थे और उस को पापपूर्ण मानते थे। यह भारतीय जनता के साथ एक तरह का राजनीतिक छल था जो आज़ादी की लड़ाई में गाँधीजी के विचारों को धत्ता बताने में किया गया। सामान्य भारतीय इस छल में कितना अधिक आया होगा, इस का अनुमान हम तब सहज ही लगा सकते हैं जब राजेन्द्र यादव सरीखे बुद्धिजीवी लेखक भी यह मान कर गाँधीजी को ख़ारिज कर देना चाहते हैं कि भारतीय राज्य ने उन्हें स्वीकार कर रखा है। वास्तविकता जब कि यह है कि राज्य ने जिस औद्योगिक आधुनिक समाज और सभ्यता को अपना वास्तविक आदर्श मान रखा है, उस के बारे में पूछे जाने पर गाँधीजी ने एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ उसे ख़ारिज कर दिया था।

गाँधीजी के साथ इस बहस को टालने की चिन्ता और आत्ममुग्धता से ग्रस्त ख़ुदगर्ज कोशिश ने भारतीय समाज को एक दोहरेपन का शिकार बना दिया है। यही कारण है कि हर भारतीय आज अहिंसा, प्रेम, करुणा और विकेन्द्रीकृत व स्वायत्त आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के सपनों के साथ-साथ एक अधुनातन और भारी प्रौद्योगिकी वाले समाज का सपना भी सँजोये हुए है। वह यह भूल जाता है कि यह प्रौद्योगिकी अनिवार्यतया हिंसक, मानव-निरपेक्ष और आर्थिक-राजनीतिक सत्ता को केन्द्रीकृत करने वाली है। त्यागपूर्ण जीवन के प्रति गहरे सम्मान के बावजूद भारतीय समाज में उपभोग और संग्रह की एक दारुण लालसा दिखायी पड़ती है और दुर्भाग्य यह है कि हम इस दोमुँहे सपने की त्रासदी को समझ भी नहीं पा रहे हैं।

इस त्रासदी को समझने के लिए गाँधी और नेहरू के बीच एक बहस चलाना ज़रूरी है—वह बहस, जिसे करने में नेहरूजी ने कोई रुचि नहीं दिखाई थी। यह क्या एक तरह से बौद्धिकतावादी और आधुनिकतावादी नेहरू-दृष्टि की परम्परावादी गाँधी-दृष्टि से पराजय नहीं थी कि सार्वजनिक बहस के आमन्त्रण के बावजूद जवाहरलाल ने उस से बचना चाहा? गाँधीजी और नेहरूजी की यह बहस कोई दो व्यक्तियों, विचारधाराओं की ही बहस नहीं होती। यह भारतीय सनातन परम्परा और आधुनिकतावादी उदारवाद के बीच एक बहस होती जिस ने भारतीय समाज को यह अवसर दिया होता कि वह अपना रास्ता चुन सके। गाँधीजी में सनातन परम्परा में श्रद्धाबुद्धि से युक्त आलोचक दृष्टि दिखायी देती है तो जवाहरलाल नेहरू उस पश्चिमी उदारवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मनुष्य की गरिमा और स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी से निर्मित समाज का सपना देखता है। इन दोनों दृष्टियों और उन के चरितार्थ होने पर उभरने वाले परिणामों के औचित्य-अनौचित्य पर एक गहरी और विवेकपूर्ण बहस के बिना भारतीय समाज पर गाँधीजी के नाम से उन्हीं के शब्दों में एक पापपूर्ण या शैतानी व्यवस्था को आरोपित करना उस उदारवादी मुखौटे की असलियत को भी ज़ाहिर कर देता है जिस के पीछे छुपी एक सत्तालोलुप सभ्यता सम्पूर्ण दुनिया को येन-केन-प्रकारेण अपने रास्ते पर ले जाना चाहती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

येन-केन-प्रकारेण सभी को अपने रास्ते ले चलना मसीहाई का अन्दाज़ है और यह अन्दाज़ मनोवैज्ञानिक स्तर पर आत्ममुग्धता की ही सामाजिक अभिव्यक्ति है। बहुत-से लोग भावना और अपनी समझ से उन की प्रशंसा में गाँधीजी को भी मसीहा कह देते हैं। लेकिन यह कई तरह से गाँधीजी को छोटा कर देना है। अगर आधुनिक भारतीय इतिहास में मसीहा बनने की ललक सब से अधिक किसी राजनेता में व्यक्त होती है तो वह हैं जवाहरलाल नेहरू। मसीहा से गाँधीजी इस मायने में अलग और बड़े हैं कि वे किसी भी बात या विचार को अन्तिम सत्य मान कर उस के अनुरूप दूसरों को चलाने के बजाय अपने समाज की परम्परा और आकांक्षा को समझ कर और उसे ही अपने विचारों और कार्यशीलता में व्यंजित करना चाहते हैं। इस लिए दूर की बौद्धिक कौड़ी लाना उन का उद्देश्य नहीं हैं। वे यह समझते हैं कि सादा, अहिंसक, सरल और आत्मीय जीवन भारतीय समाज की परम्परा और आकांक्षा है क्यों कि यही वह जीवन है जो निष्काम कर्म और अनासक्त आनन्द के जीवन-मूल्यों से पूरित हो सकता है। पश्चिमी उपभोक्तावादी समाज का नमूना उन्हें इसी लिए मंज़ूर नहीं है कि वह आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य को नीचे गिराता है और उसे केवल भोगी बना कर छोड़ देता है। सुविधा और सत्ता-संग्रह के प्रति जो एक विकराल लालसा आधुनिकतावादी सभ्यताओं में दिखाई देती है, वह मनुष्य की इसी नैतिक और आध्यात्मिक गिरावट की वजह से है।

गाँधीजी आधुनिकतावादी सभ्यता के इस खोखलेपन को समझते हैं और अपनी परम्परा-बुद्धि से इस के नतीजों को देख सकते हैं जो जवाहरलालजी नहीं देख पाते। करुणा, अहिंसा आदि मूल्यों में वे भी अपनी आस्था प्रकट करते हैं, लेकिन अपनी सारी आस्था के बावजूद यह नहीं समझ पाते कि आधुनिक प्रौद्योगिक सभ्यता में इन आदर्शों का कोई स्थान नहीं है क्यों कि इस की प्रक्रिया आत्यन्तिक रूप से हिंसक और अनात्मीय है।

कार्ल मार्क्स की यह बुनियादी मान्यता है कि समाज के सम्पूर्ण ढाँचे का आधार उत्पादन के साधनों और औज़ारों पर निर्भर करता है और उन में कोई परिवर्तन होने पर सम्पूर्ण सामाजिक हलचल में परिवर्तन घटित होता है। यह आश्चर्यजनक है कि साधन और साध्य की इस अन्तःसूत्रता को समझते हुए भी मार्क्सवादी दृष्टि इस सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक रूप को नहीं समझ पाती और इसी कारण साधन की पवित्रता के सिद्धान्त की अनदेखी करती है। गाँधीजी इस बात को समझते थे कि हिंसक वृत्ति, साधनों और प्रक्रिया से एक अहिंसक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से इस बात को न मार्क्सवाद ने समझा, न उदारवाद ने और न ही दोनों के बीच समन्वय के आकांक्षी जवाहरलाल नेहरू ने। आसक्ति और आनन्द का फ़र्क़ ही आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सनातन परम्परा का फ़र्क़ है और यही बुनियादी फ़र्क़ है जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गाँधी की मूल अन्तःप्रेरणाओं में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीवाद और राजसत्ता

गाँधी विचारधारा तत्त्वतः राजसत्ता विरोधी विचारधारा है। गाँधीजी मानते थे कि सब से अच्छी सरकार वह है जो सब से कम शासन करती है। इस तर्क का अन्तिम निष्कर्ष यह होगा कि पूर्णतः अच्छी सरकार वह है जो बिलकुल शासन नहीं करती, इस प्रकार स्वभावतः गाँधीवादी राजसत्ता के विरोध ही में खड़ा होता है—यदि वह सही अर्थों में गाँधीवादी है तो!

निरंकुश और केन्द्रीकृत राजसत्ता—और केन्द्रीकरण स्वभावतः निरंकुशता की ओर ले जाता है—के साथ गाँधीवादी का क्या सलूक हो, इस बारे में कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं रहती। लेकिन एक लोकतान्त्रिक समाज में राजसत्ता— जनप्रतिनिधित्व पर आधारित राजसत्ता—के साथ उस का सुलूक क्या हो? यह एक ऐसा प्रश्न है जो सभी गाँधीवादियों के लिए उलझन पैदा करता है और यही प्रश्न था जिस ने आपातकाल के पूर्व जयप्रकाश के आन्दोलन को ले कर गाँधीवादियों को दो शिविरों में विभक्त कर दिया था। एक लम्बे धैर्य के बाद जयप्रकाशजी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे....कि संघर्ष ही एकमात्र विकल्प है—और इतिहास ने उन्हें ही सही सिद्ध किया—जब कि एक समूह उन लोगों का था जो राजशक्ति के साथ जनशक्ति के सामंजस्य की बात करते थे। यह अपने-आप में एक विरोधाभास था क्यों कि लोकतन्त्र में राजशक्ति को लोकशक्ति का प्रभु अथवा समकक्ष नहीं माना जा सकता। सामंजस्य यही हो सकता है कि राजशक्ति जनशक्ति की इच्छा के अनुसार कार्य करे।

जब हम राजशक्ति को जनशक्ति के समकक्ष या उस से स्वतन्त्र मानने लगते हैं तो प्रकारान्तर से राजशक्ति को जनशक्ति पर तरजीह दे कर निरंकुशता को न्यौत रहे होते हैं। गाँधीजी का कहना था कि *मेरी योजना के अन्तर्गत राज्य का कार्य यह होगा कि*

Library

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वह जनता की इच्छाओं को पूरा करे, न कि यह कि वह जनता पर अपनी इच्छा लादे या ज़बरदस्ती करे।

इसी लिए गाँधीवादी को सर्वाधिक कठिनाई का सामना तब करना पड़ता है जब वह स्वयं सत्ता में होता है—बल्कि एक प्रकार से उस की असल अग्निपरीक्षा वही है।

मैं नहीं जानता कि यह सन्देह करना कहीं उन की महानता को ओछा करना तो नहीं है, पर कभी-कभी यह लगता ज़रूर है कि कहीं महात्मा गाँधी या जयप्रकाशजी सरीखे लोग इसी लिए तो सत्ता में आने से नहीं बचते रहे कि वे इस विरोधाभास को भली-भाँति पहचानते थे और साथ ही यह भी जानते थे कि राजसत्ता से अलग रहते हुए ही वे अहिंसा और सत्याग्रह की नैतिक शक्ति को कारगर कर सकते हैं, जो राजसत्ता में होने पर सम्भव नहीं है क्यों कि राज्य, स्वयं गाँधीजी के ही विचारानुसार, एक प्रकार की संगठित हिंसा है। इसी लिए सत्ता में आने या उस की करीबी पर छद्म गाँधीवादी राजसत्ता की भाषा बोलने लग जाता है और सही गाँधीवादी में वह निराशा पनपने लगती है जिस के शिकार आज़ादी के प्रारम्भिक छह महीनों में ही स्वयं महात्मा गाँधी होने लगे थे।

तीसरा—और सही—रास्ता तब राजसत्ता के विरोध का और राजसत्ता को जनाकांक्षा के अनुरूप ढालने के लिए सत्याग्रह या ऐसे ही अन्य लोकोन्मुख प्रयासों का रहता है, जिस के लिए जयप्रकाशजी ने विकेन्द्रीकरण, निर्वाचित प्रतिनिधियों को वापस बुलाने के अधिकार और इस के लिए लोक समितियों व ऐसी ही अन्य स्वैच्छिक संस्थाओं के निर्माण की बात की थी—यह बात दीगर है कि वह स्वयं कितनी शक्ति इस काम को दे पाये और उन के सर्वोदयी अनुयायी—जो फिर राजशक्ति और जनशक्ति के सामंजस्य पर ज़ोर देने लगे थे—इस आन्दोलन को कितना कारगर कर सके।

यह राजसत्ता में होने का ही प्रभाव मानना चाहिए कि *गाँधीवादी समाज* की रचना का दम भरने वाली पार्टी के सांसद हड़तालों आदि पर रोक लगाने की माँग करने लग जाते हैं और सरकार जायज़ माँगों के लिए भी घेराव को नाजायज़ मानने और उस से सख़्ती से निपटने की बात करने लग जाती है। सवाल उठता है कि यदि जायज़ माँगों के लिए भी घेराव अनुचित है तो फिर गुजरात और बिहार आन्दोलन में वह उचित कैसे हो गया? यह भी क्या राजनीतिक सुविधावाद नहीं है?

दरअस्ल, ऐसे राजनीतिक सुविधावादियों द्वारा गाँधीवाद जैसी क्रान्तिकारी विचारधारा को भी उसी तरह यथास्थितिवाद की पोषक बना दिया जाता है जिस तरह साम्यवाद जैसी स्वातन्त्र्यकामी एवं समतावादी विचारधारा को भी *सर्वहारा के अधिनायकत्व* के बहाने दल-विशेष और उस में भी एक गुट-विशेष—और कभी-कभी व्यक्ति-विशेष तक—के अधिनायकत्व की पोषक बनाया जाता रहा है।

छद्म गाँधीवादी व्यवस्था की असली पोल व्यक्तिगत सम्पत्ति, पैतृक उत्तराधिकार एवं उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व—और ये शोषण के मूल प्रेरक तत्त्वों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हैं—को लेकर खुलती है। ऐसे समय तो वे लोग भी *हृदय-परिवर्तन* की बात करने लग जाते हैं जो अन्यथा मज़दूरों की माँगों के उचित होने पर भी घेराव को *नहीं बरदाश्त* करते व हड़तालों आदि पर रोक लगाने की माँग करते हैं। यह बड़ा अजीब झुँझलाहट व खीझ पैदा करने वाला लगता है कि घेराव या नशाबन्दी आदि के सवालों पर *हृदय-परिवर्तन* पर नहीं, क़ानूनी इन्तज़ाम पर ज़ोर दिया जाता है जब कि ग़रीबी और शोषण मिटा कर एक वर्गहीन समाज बनाने के लिए क़ानून की नहीं, *हृदय-परिवर्तन* व लोगों को तैयार करने की बात की जाती है। तब स्वयं गाँधीजी की इस बात को भुला दिया जाता है कि यदि आज़ादी मिलने के पचीस वर्ष बाद तक भी पूँजीपति वर्ग *ट्रस्टी* की तरह काम नहीं करता है तो बिना कोई मुआवज़ा दिये राज्य द्वारा उन की सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लिया जाना चाहिए। हाँ, यह आवश्यक नहीं है कि सार्वजनिक स्वामित्व का तरीक़ा राष्ट्रीयकरण के नाम पर सरकारीकरण ही हो, उस के अन्य उपाय भी निकाले जा सकते हैं।

कुछ गाँधीवादी ऐसे भी हैं जो इन दोनों ही स्थितियों में राजसत्ता द्वारा बलप्रयोग को अनुचित समझते हैं और केवल क़ानून या व्यवस्था भंग होने पर ही राज्य द्वारा बलप्रयोग को उचित ठहराते हैं।

यहाँ सवाल उठता है कि क़ानून और व्यवस्था का आधार क्या है? यदि क़ानून गाँधीवादी दर्शन पर आधारित नहीं है तो उस क़ानून के बनाने या रक्षा का दायित्व एक गाँधीवादी का कैसे हो सकता है? और यदि क़ानून गाँधीवादी दर्शन पर आधारित है तो निश्चय ही उस में शोषण की गुंजाइश नहीं हो सकती क्यों कि गाँधी शोषण को भी हिंसा मानते थे।

एक लोकतान्त्रिक समाज में राजसत्ता को जनसत्ता के आदेशों का पालन करना होता है। यदि व्यवस्था शोषण को बढ़ावा देती है तो एक लोकतान्त्रिक समाज में राजसत्ता को शोषकों के *हृदय-परिवर्तन* का इन्तज़ार करने की आवश्यकता नहीं है।

किसी भी दल, समूह या व्यक्ति को जनता द्वारा इस वचन के आधार पर ही चुना गया है कि वह एक शोषणविहीन व स्वतन्त्र समाज की रचना करेगा और ऐसा करने के लिए क़ानून बनवायेगा व उन्हें सही तरीक़े से लागू करवायेगा। जिन लोगों को यह कार्य राजसत्ता के माध्यम से नहीं, बल्कि *हृदय-परिवर्तन* से करना था, उन्हें चुनाव लड़ कर विधि-निर्माण करने वाली संस्थाओं में जाने व सरकार बनाने के बजाय विनोबाजी के नक़्शे-क़दम पर भूदान आन्दोलन की तरह का कोई कार्य करना चाहिए था। स्वयं को गाँधी का अनुयायी कहने वाले राजनीतिक लोग क्या कुछ समझेंगे?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'महासागरीय वृत्त' की राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकता की अवधारणा पर चर्चा सैद्धान्तिक स्तर पर एक अटपटी बात लग सकती है क्यों कि *राष्ट्र* शब्द में ही एकता का बोध समाहित है। कोई भी जनसमूह तभी तो *राष्ट्र* कहलाता है जब उस में कुछ मुद्दों पर बुनियादी एकता हो। राजनीति के विचारकों ने *एकता* को एक मूलभूत तत्त्व माना है जो किसी राष्ट्र का निर्माण करती है। जब किसी जनसमूह में धर्म, भाषा, जाति, संस्कृति, इतिहास और भूगोल की एकता हो तो वह *राष्ट्र* कहलाने का अधिकारी बनता है। यह तो देखा गया है कि इन निर्धारक तत्त्वों में से कभी-कभी कोई एक तत्त्व ही मुख्य कारक तत्त्व बन जाये—यदि वह सम्बन्धित जनसमूह में वांछित एकता पैदा कर सकता हो। इस लिए कई बार धर्मों की विविधता के बावजूद भाषा एक कर सकती है तो कई बार धर्म की एकता के बावजूद भाषा अलग भी कर सकती है। कई बार भाषिक एकता के बावजूद धार्मिक सम्प्रदाय अलग राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। लेकिन किसी भी स्थिति में कोई-न-कोई तत्त्व ऐसा होता है जो एक निश्चित जनसमूह में एकता का भाव पैदा करता है और इस प्रकार उस जनसमूह को एक *राष्ट्र* बनाने में मुख्य कारक हो जाता है। इस का मतलब है कि एक प्रकार से *राष्ट्र* का तात्पर्य ही किसी जनसमूह की बुनियादी एकता का बोध है। यह आश्चर्यजनक है कि पूँजीवादी या आधुनिकतावादी लोकतन्त्र के समर्थक और मार्क्सवादी-विचारक, दोनों ही सामान्य भाषा, सामान्य संस्कृति, सामान्य ऐतिहासिक परम्परा, आदि को राष्ट्र का निर्धारक तत्त्व मानते हैं। *नेशन* को परिभाषित करते हुए स्टालिन भी इन्हीं लक्षणों को गिनाते हैं (देखिए, डॉ. रामविलास शर्मा की भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, पृ. 14) तो प्रो. बर्गेस भी *राष्ट्र* को जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह *जनता* मानते हैं जो किसी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अखण्ड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती हो। और जातीय एकता से उन का अभिप्राय है *एक सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य चेतना*। इस में अन्तिम तत्त्व कुछ अधिक अमूर्त है जब कि बाक़ी तत्त्व स्पष्ट व मूर्त हैं।

यदि हम राष्ट्र की इस अवधारणा को सही मानते हैं तो भारत को—और भारत ही क्यों, दुनिया के बहुत-से देशों को—राष्ट्र नहीं कहा जा सकता और तब वहाँ राष्ट्रीय एकता की अवधारणा का सवाल भी प्रासंगिक हो जाता है। भारतीय सन्दर्भ में यह इस लिए महत्त्वपूर्ण है कि राष्ट्र की इसी पश्चिमी परिभाषा के चलते सैलिंग हैरिसन जैसे अमरीकी विद्वान ने भारतवर्ष को अनेक राष्ट्रों वाला एक उपमहाद्वीप माना है और स्वयं मोहम्मद अली जिन्ना ने इसी आधार पर *द्विराष्ट्र सिद्धान्त* का प्रतिपादन करते हुए मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग राष्ट्र माना था। बाद में एक धर्म के बावजूद भाषा के आधार पर बाँग्लादेश की अलग राष्ट्रीय अस्मिता बनी जिसने स्वयं जिन्ना के सिद्धान्त को खोखला साबित कर दिया। अभी भी कुछ लोग सिख पन्थ को अलग राष्ट्रीयता मानते हुए एक अलग *खालिस्तान* की माँग करते रहे हैं। और यदि यह माँग भाषावार आधार पर सभी प्रदेशों में खड़ी हो जाये तो निश्चय ही एक अराजकता की स्थिति पैदा हो जायेगी। समय-समय पर होने वाले साम्प्रदायिक और भाषिक दंगे इस बात के सूचक हैं कि कहीं-न-कहीं भारतवर्ष में *राष्ट्र* की यह पश्चिमी अवधारणा—जो औपनिवेशिक दौर की शिक्षा एवं राजनीतिक व्यवस्था के ज़रिये गहरे तक घुस आयी थी और विभाजन का सर्वप्रथम कारण थी—अभी भी क्रियाशील है। भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता की बात करना इसी लिए मौजूँ है। लेकिन *राष्ट्र* की सारी सांस्कृतिक और तत्त्वशास्त्रीय परिभाषाओं और व्याख्याओं के बावजूद राष्ट्रीय एकता का व्यावहारिक अर्थ एक भूखण्ड में रहने वाले लोगों की राजनीतिक एकता ही हो गया है। यह भी एक विचित्र विरोधाभास है कि जो जनसमूह से पृथक् एक स्वतन्त्र सार्वभौम राज्य का आग्रह करता है, वह भी अन्ततः सांस्कृतिक संगठन की चरम परिणति राज्य में अर्थात् राजनीतिक एकता में देखता है तो दूसरी ओर शेष जनसमूह पृथक् होने की आकांक्षा को राष्ट्रविरोधी कहता हुआ उस की पृथक् सांस्कृतिक या धार्मिक या भाषिक पहचान को स्वीकृति देता हुआ भी उसे पृथक् सार्वभौम राजनीतिक पहचान देने के बजाय एक ही राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत रखना चाहता है। दोनों ओर राजनीतिक एकता ही राष्ट्रीय एकता का आधार बन जाती है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में इसी लिए *राष्ट्र* को लेकर अधिक परेशानी नहीं रही। *राष्ट्र* का तात्पर्य एक राज्य के अन्तर्गत आने वाले भूखण्ड से भी था और उस पर रहने वाली प्रजा से भी। उस प्रजा का धर्म, भाषा व अन्य विशेषताएँ उसे कोई अलग राजनीतिक पहचान नहीं देती थीं। कम-से-कम मध्यकाल से पूर्व तक यही स्थिति थी, जब एक अल्पसंख्यक बौद्ध या जैन राज्य के अधीन बहुसंख्यक हिन्दू जनता बिना किसी पृथक् राजनीतिक पहचान का आग्रह किये रहती थी। मध्यकाल में भी पृथक्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
पहचान का यह आग्रह प्रजा की ओर से नहीं, बल्कि राज्य की ओर से ही था जब कुछ सुल्तानों द्वारा ग़ैर-मुस्लिम प्रजा पर धार्मिक कर लगाया जाता था। भाषा या रीति-रिवाजों की विशिष्टता के आधार पर भी किसी पृथक् राजनीतिक सम्प्रभुता का सिद्धान्त नहीं था। स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक चेतना में सम्प्रदाय, भाषा, जाति आदि के आधार पर *राष्ट्र* की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था और आधुनिक काल में ब्रिटिश शासन के दौरान भी एक विदेशी सत्ता से और विदेशी भूमि से शासित होने के कारण ही पूरे भारत को उस से मुक्त कर एक सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य बनाने की कोशिश हुई। मुझे लगता है कि यदि अंग्रेज भी अफ़ग़ानों की तरह भारत में आकर बस गये होते और धीरे-धीरे इस देश को उन्होंने अपना देश मान लिया होता तो कुछ प्रारम्भिक संघर्ष के बाद वे इसी समाज के अंग हो गये होते। लेकिन ऐसा न होने और भारतीय प्रजा को हमेशा बेगाना मानने के कारण वे सदैव इस के शोषण में लगे रहे। इस अलगाव ने उन्हें हमेशा विदेशी बनाये रखा और इसी कारण देश में सभी स्तरों पर उन के ख़िलाफ़ संघर्ष हुआ। इसी कारण कुछ लोग कह देते हैं कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का विकास अंग्रेजी शासन की वजह से हुआ और इस लिए आज़ादी की लड़ाई के दौरान विकसित एकता मूलतः नकारात्मक थी, जो आज़ादी मिलते ही बनी न रह सकी! विभाजन भी इसी कारण हुआ और साम्प्रदायिकतावाद, क्षेत्रीयतावाद तथा भाषावाद आदि प्रवृत्तियाँ सकारात्मक राष्ट्रीयता के अभाव में पनपनी स्वाभाविक हैं।

लेकिन यह निष्कर्ष इतिहास और विशेषतः भारतीय इतिहास की सतही और सरलीकृत समझ पर आधारित है। पश्चिम में *नेशन-स्टेट* का विकास—और यह *नेशन-स्टेट* ही राष्ट्रीय एकता का चरम रूप है—पूँजीवाद के साथ-साथ हुआ। पूँजीवाद में अनिवार्यतः अर्थसत्ता का केन्द्रीकरण और राजसत्ता का केन्द्रीकरण साथ-साथ चलते हैं। ऐसी स्थिति में एक ओर शासक जातियाँ शासितों के दमन और उत्पीड़न से अपने को लाभान्वित करना चाहती हैं क्यों कि शासितों की अपनी परम्परा और जीवन शैली को अपने अनुकूल ढाल कर ही वे उन्हें अपने पूँजीवादी-साम्राज्यवादी हितों के लिए इस्तेमाल कर सकती हैं, तो दूसरी ओर शासित जातियाँ अपने को राजनीतिक दमन और आर्थिक शोषण से बचाने के लिए अपनी सांस्कृतिक पहचान को एकता का आधार बनाती हैं, जिस से साम्राज्यों के विरुद्ध *नेशन-स्टेट्स* के संघर्ष का जन्म होता है। स्पष्ट है कि पश्चिमी अर्थों में जिसे राष्ट्र, राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद कहा जाता है, वह विभिन्न जातियों के साम्राज्यवादी या पूँजीवादी सम्बन्धों का एक परिणाम है क्यों कि पूँजीवाद या साम्राज्यवाद अनिवार्यतया केन्द्रीकरण पर आधारित हैं और सत्ता का किसी एक स्थान पर केन्द्रीकरण उस सत्ता से दमित और शोषित जनसमूहों को संघर्ष करने को मजबूर कर देता है, जैसा कि अंग्रेजी शासन के दौरान हिन्दुस्तान में हुआ।

लेकिन भारतीय परम्परा में राष्ट्रीयता शब्द का अर्थ है एक भूखण्ड पर रहने वाली प्रजा में एकता की भावना—इस एकता का आधार भाषा, धर्म या रीति-रिवाजों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
और एक इतिहास की बजाय संवेदनात्मक अधिक होता है—वह संवेदना, जो *भाईचारे और समानता के व्यवहार* पर अधिक टिकी होती है। इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हुए डॉ. रामविलास शर्मा भी कहते हैं कि जिन देशों में सामन्ती और पूँजीवादी युगों में जातीय उत्पीड़न नहीं रहा या कम रहा है, विभिन्न जातियों में समानता और भाईचारे का व्यवहार जहाँ अधिक हुआ है, वहाँ भाषाओं की भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीयता का विकास हुआ है। इस के विपरीत, जहाँ एक प्रभुत्वशाली जाति के सामन्तों और पूँजीपतियों ने दूसरी जातियों का दमन किया है, वहाँ इस राष्ट्रीयता का अभाव रहा है। प्रभुत्वशाली जाति भले ही राष्ट्रीयता के गीत गाती रहे, पराधीन जातियों में इस राष्ट्रीय चेतना का अभाव होता है, उन के लिए राष्ट्रीयता का अर्थ होता है—दूसरों का प्रभुत्व स्वीकार करना, अपना जातीय अस्तित्व अस्वीकार करना (वही, पृ. 23)। यहाँ यह स्पष्ट करना शायद आवश्यक नहीं है कि रामविलासजी भी जाति को *नेशन* के अर्थों में प्रयुक्त करते हैं और राष्ट्रीयता को एक भूखण्ड पर रहने वाली प्रजा की भावात्मक एकता के बोध के रूप में, जो *भाईचारे* और *समानता के व्यवहार* से पैदा होती है।

भारतीय समाज बुनियादी रूप से एक बहुकेन्द्रिक समाज रहा है। बहुकेन्द्रिक समाज का अर्थ है एक ऐसा समाज, जहाँ सत्ता और आस्था के विविध केन्द्रों की मान्यता हो और जो एक-दूसरे में आक्रामक हस्तक्षेप करने के बजाय एक-दूसरे को पुष्ट करते हों। यही कारण रहा है कि भारत प्रारम्भ से ही वैचारिक और धार्मिक सम्प्रदायों का मिलन-स्थल रहा और शास्त्रीय बहसें तो हुईं, पर कभी विरोधी सम्प्रदायों को नष्ट करने की भावना यहाँ बलवती नहीं हुई और उस के लिए शक्ति या प्रलोभन आदि का इस्तेमाल नहीं किया गया। इस्लाम का प्रवेश उत्तर में आक्रान्ता जातियों के साथ हुआ और इस लिए प्रारम्भ में कुछ आक्रामकता दिखायी भी देती है, लेकिन शीघ्र ही भारतीय परम्परा की सहिष्णुता से आक्रामकता लगभग विलुप्त हो गयी और स्वयं इस्लाम के अनुयायियों में हिन्दुस्तानी होने का एक गौरव पैदा हुआ। दक्षिण में तो उस का प्रवेश एक शान्त धर्म के रूप में ही हुआ था।

लेकिन सवाल हिन्दू धर्म और इस्लाम का नहीं है। सवाल है बहुकेन्द्रिकता यानी विभिन्न केन्द्रों के सह-अस्तित्व और पारस्परिक सम्मान का। ऐसा नहीं है कि समाज में असमानताएँ या किसी भी प्रकार का संघर्ष न रहा हो। लेकिन इस सब के बावजूद एक बात का आग्रह बराबर रहा है और वह है समाज के विविध स्तरों और संगठनों में पारस्परिक अहस्तक्षेप और आन्तरिक स्वायत्तता का सम्मान। ग्राम समाजों से ले कर विभिन्न सामाजिक-धार्मिक समूहों या जातियों आदि के मामलों में राज्य या अन्य किसी स्तर पर सत्ता का अहस्तक्षेप एक सम्मानित परम्परा रहा है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा भारतीय समाज के बारे में किये गये कई भ्रामक निष्कर्षों में एक यह है कि भारतीय समाज में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव रहा है और उसी के कारण यहाँ स्थानीयता की भावना की प्रबलता रही जो किसी केन्द्रीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
शक्ति को अस्वीकार कर बड़े साम्राज्यों के विघटन का कारण बनी। विदेशी इतिहासकारों की इस दृष्टि को आधुनिक राष्ट्रवाद—नेशन-स्टेट वाले राष्ट्रवाद—से प्रभावित बहुत-से भारतीय विद्वानों द्वारा अविचारित ही स्वीकार कर लिया जाता है। दुर्भाग्य से हमारे अधिकांश आधुनिक विद्वान आनन्द के. कुमारस्वामी की इस बात की अनदेखी करते हैं कि *हम किसी भी परम्परा को उस के बाहर से नहीं, अन्दर से, अर्थात् उस की अपनी दृष्टि और मर्यादाओं के आधार पर ही समझ सकते हैं। भारतीय समाज में राष्ट्रीयता का अभाव देखने वाले विद्वान इस बात को जैसे भूल ही गये कि जिस राष्ट्रवाद की तलाश वे भारतीय समाज में करते रहे हैं वह तो उन्हें उस यूनानी सभ्यता में भी नहीं मिलेगा जिस के गुण गाते आज वे अघाते नहीं। नगर-राज्यों में बँटा यूनान उन अर्थों में एक राष्ट्र नहीं हो सकता था जिन में एक आधुनिक राज्य है—बल्कि पश्चिम में भी 'नेशन-स्टेट' के विकास से ही यह आधुनिक राष्ट्रवाद भी जुड़ा है। नेशन-स्टेट* की अवधारणा वास्तव में आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था और उस के लिए आवश्यक राजनीतिक साम्राज्यवादी मानसिकता से पोषित अवधारणा है। भारतीय समाज की राष्ट्रीयता की भावना की कसौटी इस लिए *नेशन-स्टेट* की इस अवधारणा को बनाना और उस में सफल नहीं होने पर अपनी परम्परा के प्रति ग्लानि महसूस करना साम्राज्यवादी प्रेतबाधा से ग्रस्त होना है।

मैं यहाँ उस सांस्कृतिक एकता या धार्मिक समन्वय और सभी भारतीय भाषाओं की समान साहित्यिक प्रेरणाओं की चर्चा नहीं करना चाहता क्यों कि वे सभी इतिहास की सामान्य पुस्तकों में भी बहुतायत से बतायी जाती हैं। मैं जिस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह है कि *नेशन-स्टेट* की अवधारणा और सत्ता का राज्य-संस्थान में केन्द्रीकरण अनिवार्यतया भारतीय समाज में राष्ट्रीय एकता के विनाशक तत्त्व हैं। भारतीय परम्परा में प्रत्येक ग्रामीण समाज, कुल-समूहों और व्यापारिक-व्यावसायिक श्रेणियों आदि के स्वायत्त अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उन के कार्यों में हस्तक्षेप को अनुचित माना गया है। चक्रवर्ती राज्य की कल्पना में भी स्थानीय स्वायत्तता को पूरा सम्मान दिया गया है। कौटिल्य ने केवल अधीनता मान लेने से सन्तुष्ट होने वाले राजा को धर्म-विजयी, भेंट व कर से सन्तुष्ट होने वाले राजा को लोभ-विजयी और विजित देशों को पूरी तरह से अपने अधिकार में कर वहाँ अपनी शासन-संस्थाओं को स्थापित करने वाले राजा को असुर-विजयी कहा है (कौटिल्य, 12/1)। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि विजयी राजा को विजित प्रदेश की परम्पराओं, रूढ़ियों, रीतियों आदि पर अपनी संस्कृति का दुरूह भार नहीं लादना चाहिए (1/342-43)। विष्णु धर्म सूत्र (2/42 एवं 47-49), मनु (7/202-293) एवं अग्निपुराण (236/22) तथा अन्य कई ग्रन्थकारों ने इसी मत का समर्थन किया है। मध्यकाल में तीन सौ से भी अधिक वर्षों तक तुर्क-अफ़ग़ान सुल्तानों से निरन्तर संघर्ष करने के बाद अकबर द्वारा हिन्दू राजाओं से मैत्रीपूर्ण अधीनता स्वीकार करा लेने के पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था कि अकबर ने हिन्दू राजाओं को अपदस्थ कर उन्हें अपने क़ानून के सीधे नीचे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
लाना नहीं चाहा। स्पष्ट है कि चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना में भी भारतीय राजनीतिक चिन्तकों द्वारा प्रादेशिक स्वायत्तता को सुरक्षित रखने की ओर पूरा ध्यान दिया गया। भारतवर्ष की प्राकृतिक विविधता और उस के आधार पर विकसित आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए स्थानीय स्वायत्तता और सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं की स्वायत्तता का यह आग्रह भारतीय मूल्यबोध और व्यावहारिक सामाजिक-राजनीतिक आवश्यकताओं के सामंजस्य का एक अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है।

अन्य देशों में राजनीतिक ढाँचे के बिखरते ही प्राचीन सभ्यताओं के नष्ट होने की जो घटनाएँ हमें मिलती हैं, उन का वास्तविक कारण उन के राजनीतिक ढाँचे का केन्द्रीकरण है। इसी कारण राजनीतिक पराजय के परिणामस्वरूप केन्द्रीकृत राजनीतिक आधारों पर खड़ी सभ्यता का धराशायी हो जाना स्वाभाविक था। भारतवर्ष में अनेक विदेशी आक्रमणों और राजनीतिक पराजयों के बावजूद एक सांस्कृतिक निरन्तरता हमें दिखायी देती है तो इस का श्रेय बड़ी हद तक उन स्थानीय स्वायत्त संस्थानों को भी है जिन्हें विदेशी आक्रान्ता नष्ट नहीं कर सके और उन के अस्तित्वमान रहने के कारण भारतीय समाज को एक सुदृढ़ सांस्थानिक आधार हमेशा उपलब्ध रहा। ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व तक भारत में स्थानीय सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं की इस स्वायत्तता ने ही विदेशी जातियों की सत्ता और कई राज्यों के स्वतन्त्र अस्तित्व के बावजूद भारतवर्ष को एक राष्ट्र बनाये रखा क्यों कि अलग-अलग रिवाजों और सामाजिक नियमों के बावजूद एक धर्मबोध, नीति चेतना या न्यायबुद्धि इन संस्थाओं की संचालक प्रेरणा बनी रही।

भारतीय समाज में विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों और प्रदेशों की विभिन्न प्रकार की सांस्थानिकता की स्वायत्तता का बड़ा सम्मान रहा है और भारतीय समाज के *भाईचारे* और *समानता की भावना* का सर्वोत्तम पहलू यह रहा है कि स्थानीय मसलों और विभिन्न समाजों के मसलों में राज्य का हस्तक्षेप न रहे। राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण उसे उत्पीड़क बनायेगा ही। इसी लिए भारतीयों ने राजा को देवतुल्य कहते हुए भी उसे अपने स्थानीय और सामाजिक-धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार नहीं दिया। धर्म को हमेशा राज्य से ऊपर माना गया है—धर्म किसी पन्थ-विशेष के अर्थ में नहीं, बल्कि समाज के मूल्यबोध और न्यायबुद्धि के अर्थ में। और धर्म का प्रमाण किसी ग्रन्थ-विशेष में नहीं, बल्कि लोकमान्यता में स्वीकार किया गया।

भारतीय समाज में राष्ट्रीय एकता के बोध में जो दरारें दिख रही हैं, उन का प्रमुख कारण हमारे विद्या केन्द्रों और प्रसार-साधनों के माध्यम से *नेशन-स्टेट* की अवधारणा का प्रसार और राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण रहा है। भारतीयता को हिन्दू शास्त्रों से परिभाषित करने की प्रक्रिया भी *नेशन-स्टेट* की धारणा का ही प्रकारान्तर है। दरअस्ल, भारतीयता को किसी धर्म-विशेष के आधार पर नहीं, बल्कि भारतीय संवेदना के आधार पर परिभाषित करने की ज़रूरत है क्यों कि यह भारतीय संवेदना ही है जो एक सामान्य भारतीय मुसलमान को अन्य ग़ैर-भारतीय मुसलमानों से अलग पहचान देती है। भारतीयता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
हिन्दुत्व में नहीं, उन विशेषताओं में है जो एक वैश्विक धर्म के अनुयायी को भारतीय बनाती हैं। अपनी दार्शनिक आस्थाओं और शास्त्रीय धार्मिक सिद्धान्तों के बावजूद वह क्या चीज़ है जो एक हिन्दू, मुसलमान या अन्य किसी पन्थ के अनुयायी में एक-सरीखी है? क्या प्रकृति और जीव-जगत् के साथ हमारा रिश्ता, हमारी लोक-स्मृति (जिसे मैं धार्मिक स्मृति से कुछ अलग कर के देखता हूँ) और भारतीय भाषाओं में व्याप्त लगभग एक जैसे प्रतीक और उपमाएँ, वाक्य-विन्यास तथा एक-दूसरे के समाजों में मित्रतापूर्ण अहस्तक्षेप की मानसिकता और भारतीय भूगोल के प्रति हमारी आस्था—वे कारक तत्त्व नहीं हैं जो भारत की विभिन्न भाषाओं और सम्प्रदायों के बीच एक सामान्य सूत्र का काम करते हैं?

राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण, राष्ट्रीय बोध में दरार का एक महत्त्वपूर्ण कारण है, जिस की वजह से राजसत्ता स्थानीय और ग़ैर-राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार पा जाती है और तब राजसत्ता पर पूर्णतया और निष्कंटक क़ाबिज़ न हो पाने वाली जाति या समूह अपने को अरक्षित और दमित-शोषित मानने लग जाती है, जो प्रकारान्तर से उस में एक प्रतिक्रियात्मक राष्ट्रवाद—आत्मनिर्णय के आधार पर विकसित *नेशन-स्टेट* वाले राष्ट्रवाद का विकास करती है और ज़ाहिर है कि उस का आधार एक प्रकार का उग्र भाषावाद, सम्प्रदायवाद या क्षेत्रीयतावाद ही हो सकता है। संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त अन्ततोगत्वा लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के माध्यम से सर्वसत्तावाद की स्थापना की कोशिश हो जाता है और एक बहुलवादी समाज में इस तरह का सर्वसत्तावाद एक केन्द्र को सर्वशक्तिमान और अन्यों को उस के सम्मुख हीनता का बोध करवा कर उन्हें अपनी श्रेष्ठता के संघर्ष के लिए मजबूर करता है।

भारतीय समाज की राष्ट्रीयता का आधार विभिन्न प्रदेशों, जातियों और सम्प्रदायों की अपनी स्वायत्त संस्थाओं का सहअस्तित्व रहा है। इसी कारण बहुत-से अन्तरों के बावजूद सभी अपने को एक भू-प्रदेश का निवासी मानते और उस के प्रति आस्थावान रहे हैं। गाँधीजी ने जब एक *महासागरीय वृत्त* की बात कही थी तो वह वस्तुतः उस बहुकेन्द्रिक समाज-व्यवस्था की ही पुनर्कल्पना थी, जो भारतीय समाज में परम्परागत रूप से रही है और पश्चिमी साम्राज्यवादी व आधुनिक औद्योगिक सभ्यता जिसे नष्ट किये बिना अपने को इस समाज में स्थापित नहीं कर सकती थी। एक बहुकेन्द्रिक समाज और *महासागरीय वृत्त* की गाँधीजी की धारणा ही भारतवर्ष में राष्ट्रीय एकता का सुदृढ़ आधार हो सकती है। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पर आधारित व्यवस्था अन्ततोगत्वा पश्चिमी *नेशन-स्टेट* की अवधारणा को ही बढ़ावा देगी—जिस का परिणाम होगा भारत की विभिन्न जातियों या प्रदेशों की अपने लिए अलग राज्य की माँग। *नेशन-स्टेट* की इस धारणा का विकास पूँजीवाद और औद्योगिक सभ्यता के साथ होता है और अर्थसत्ता का केन्द्रीकरण राजसत्ता के केन्द्रीकरण का आधार बन कर एक-दूसरे को पुष्ट करते रहने के कारण बनते हैं। इसी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिए भारत की एकता अर्थसत्ता और राजसत्ता के विकेन्द्रीकरण एवं स्वायत्त सामाजिक संस्थाओं के विकास पर निर्भर करती है। एक बहुकेन्द्रिक समाज में विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और भाषा-भाषियों का सह-अस्तित्व ही पारस्परिक मेलजोल से राजनीतिक एकता को सुदृढ़ भावात्मक आधार दे सकता है। यह काम किसी कृत्रिम समन्वय की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के संस्थागत विकास से ही हो सकता है, जिस में प्रत्येक सामाजिक या भाषिक समूह अपने को सुरक्षित एवं दूसरों के हस्तक्षेप से मुक्त महसूस करे। आधुनिक काल में पूँजीवादी और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों की जगह राजनीतिक-आर्थिक विकेन्द्रीकरण और किसी एक केन्द्रीय धारा या प्रवृत्ति के आत्यन्तिक आग्रह के बजाय भारतीय समाज के विभिन्न हिस्सों की आन्तरिक स्वायत्तता का सम्मान और सह-अस्तित्व का भाव ही भारत में वास्तविक राष्ट्रीय एकता के बोध की आधार-भूमि बन सकते हैं। भारतीय परिवेश की समग्रता का बोध ही भारतीय राष्ट्रीयता है जो किसी दूसरे के विरोध में नहीं खड़ा है, बल्कि दूसरे को अपने में शामिल कर लेना चाहता है—बिना उस की धार्मिक या सामाजिक परम्पराओं पर आघात किये। यदि हम एक ऐसी सभ्यता का निर्माण करते हैं जो समग्रता के बजाय एक धारा पर और बहुकेन्द्रिता की बजाय किसी एक केन्द्र को तरजीह देती हो तो विभिन्न जातियों या सम्प्रदायों में *नेशन-स्टेट* की धारणा को प्रबल होने से नहीं रोका जा सकेगा, जिस का अर्थ होगा भारत के भूगोल में विविध राष्ट्र-राज्यों का निर्माण।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अहिंसा की सामाजिक प्रौद्योगिकी

अस्पृश्यता को मिटाने के लिए अथक प्रयत्न करने वाले महात्मा गाँधी वर्णधर्म के या चार जातियों की व्यवस्था के समर्थक थे, इस बात को ले कर काफ़ी उलझन और ग़लतफ़हमी रही है और यह उलझन गाँधी के अपने जीवनकाल में भी बार-बार व्यक्त की जाती रही है। बाबा साहब अम्बेडकर वर्णधर्म को ही अस्पृश्यता का मूल समझते थे और इसी लिए उस के मिटने में ही दलित वर्ग के समान अधिकारों की सम्भावना देख पाते थे। जस्टिस पार्टी के लोग भी वर्णधर्म को ले कर गाँधीजी के विचारों को रहस्यवादी मानते हुए यह स्वीकार नहीं कर पाते थे कि वर्णधर्म के रहते हुए हिन्दू धर्म में कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था सम्भव हो सकती है। 1927 में इस पार्टी के मुखपत्र *जस्टिस* में लिखा गया था कि *हमें बताया गया है कि महात्मा गाँधी वर्णाश्रम धर्म को श्रेष्ठ संस्था के रूप में देखते और ब्राह्मणवाद का गुणगान करते हैं। बेशक उन्होंने छुआछूत और बालविवाह और बारह वर्ष से छोटे बच्चों के शोषण जैसी कुछ बुराइयों की तरफ़ इशारा किया और कहा कि वे ब्राह्मणवाद के मखौल हैं। लेकिन अगर ये बुराइयाँ न हों तो ये ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम धर्म को बहुत पसन्द करते हैं। हमें महात्मा गाँधी के दृष्टिकोण में पर्याप्त मात्रा में मौजूद रहस्यवाद को अवश्य स्वीकार करना होगा। क्या यह सुझाया जा रहा है कि दलित वर्गों से स्पृश्य-सदृश व्यवहार कर के और जो विशेषाधिकार (अगर उन्हें विशेषाधिकार कहा जा सके) ब्राह्मणों से स्पृश्य वर्गों को प्राप्त हैं, उन्हें वही विशेषाधिकार देकर छुआछूत को समाप्त किया जा सकता है?* आज भी ऐसे बहुत-से लोग मिल जाते हैं जो गाँधीजी के वर्णधर्म सम्बन्धी विचारों को सामाजिक रूढ़िवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि इस सम्बन्ध में समय-समय पर व्यक्त गाँधीजी के विचारों को उन के समग्रतामूलक दृष्टिकोण के अन्तर्गत एक सूत्र में व्यवस्थित कर समझने का प्रयास किया जाय।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीजी का केन्द्रीय सरोकार एक अहिंसक समाज का विकास करना है। इस लिए निश्चय ही वे किसी भी ऐसी प्रथा या अवधारणा को नहीं स्वीकार कर सकते थे, जो किसी भी प्रकार के शोषण, दमन या उत्पीड़न पर आधारित हो या इन्हें बढ़ावा देती हो। इस लिए वे जब कभी भी जाति या वर्ण की अवधारणा की बात करते हैं तो वह सभी प्रकार के ऊँच-नीच और भेदभाव से रहित एक ऐसी आर्थिक-सामाजिक अवधारणा के रूप में करते हैं, जिस से लोगों को अपने परम्परागत व्यवसायों और जन्मजात नैसर्गिक गुणों के विकास का पूरा अवसर मिले और समाज में व्यर्थ प्रतिद्वन्द्विता का आवेग न पैदा हो।

1921 में ही *यंग इण्डिया* में उन्होंने लिखा था : *आर्थिक दृष्टि से इस का महत्त्व कभी बहुत महान् था। इस से पैतृक व्यवसाय सुरक्षित हो गये, प्रतिद्वन्द्विता सीमित रही। दरिद्रता के ख़िलाफ़ यह सर्वश्रेष्ठ उपाय था। और इस में व्यापारिक श्रेणियों के सभी लाभ थे।* लेकिन साथ ही यह भी स्मरणीय है कि गाँधीजी ने वर्ण या जाति के उच्चावच-क्रम को कभी स्वीकार नहीं किया। उन के लिए यह श्रम-विभाजन प्राकृतिक तो था पर इस में कोई भी वर्ग श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं समझा जाना चाहिए और न ही उन के बीच खान-पान और वैवाहिक सम्बन्धों पर कोई रोक हो सकती है। 1931 में *यंग इण्डिया* में ही इस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा : *मैं पैतृक व्यवसायों पर आधारित वर्ण में विश्वास करता हूँ। चार वर्ण चार सार्वभौमिक व्यवसायों को सूचित करते हैं। विद्या दान, अरक्षित की रक्षा, खेती और व्यापार और शारीरिक श्रम के माध्यम से सेवा। ये व्यवसाय सम्पूर्ण मनुष्य जाति में पाये जाते हैं, लेकिन हिन्दू धर्म ने उन्हें हमारे अस्तित्व की विधि की तरह स्वीकार कर उन का उपयोग सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहार को निरूपित करने में किया। लेकिन जब हिन्दू जड़ हो गये तो वर्ण के दुरुपयोग से असंख्य जातियाँ पैदा हो गयीं। जिन पर खान-पान और विवाह के अनावश्यक और नुक़सानदेह प्रतिबन्ध थे। विभिन्न वर्णों के लोग अन्तरजातीय खान-पान और विवाह कर सकते हैं। इस तरह के प्रतिबन्ध शुद्धता और स्वास्थ्य की दृष्टि से ज़रूरी होते होंगे, लेकिन एक शूद्र से विवाह करने वाला ब्राह्मण या ब्राह्मण से विवाह करने वाला शूद्र वर्णधर्म का कतई उल्लंघन नहीं करता।*

गाँधीजी यह भी मानते थे कि ऊँच-नीच का भाव वर्णधर्म की विकृति है। और इस से मुक्त होने पर ही इस व्यवस्था की वास्तविक शुद्धि हो सकती है। 1933 में *हरिजन* में उन्होंने लिखा : *अस्पृश्यता जातिप्रथा का नहीं, बल्कि हिन्दू समाज में आ घुसे ऊँच-नीच के भेद का परिणाम है और इसे नष्ट कर रहा है। इस लिए अस्पृश्यता पर आक्रमण वास्तव में इस ऊँच-नीचवाद पर आक्रमण है। अस्पृश्यता के समाप्त होते ही जातिप्रथा का शुद्धीकरण हो जायेगा और तब यह मेरे सपनों के अनुसार वास्तविक वर्णधर्म अर्थात् समाज के ऐसे चार विभागों में स्थापित हो जायेगा जो एक-दूजे के पूरक हैं और उन में से कोई एक-दूजे से ऊँचा या नीचा नहीं है। प्रत्येक का हिन्दू समाज की समग्र देह के लिए समान महत्त्व है।* स्पष्ट है कि गाँधीजी वर्ण-व्यवस्था को भी ऊर्ध्वाधर नहीं, बल्कि समस्तरीय संरचना के रूप में ही देखते हैं—पिरामिडाकार नहीं, सागरीय वलय की तरह।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
जातिप्रथा के वर्तमान स्वरूप के तीन मुख्य आधार हैं—विवाह, खान-पान और उच्चावच-क्रम। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि गाँधीजी इन तीनों में से किसी को स्वीकार नहीं करते, बल्कि वे इन प्रतिबन्धों को समाज के लिए अनावश्यक और हानिकर मानते हैं। वे पैतृक व्यवसायों के आधार पर भी चार वर्णों को ही स्वीकार करते हैं और उन का विभिन्न जातियों-उपजातियों में बाँटा जाना भी एक विकृति मानते हैं, जब कि ये बहुसंख्यक जातियाँ-उपजातियाँ भी वर्तमान जातिप्रथा का एक और मुख्य विभेदक आधार है। स्पष्ट है कि गाँधीजी की कल्पना में जो वर्णधर्म या जातिधर्म है, वह उस व्यवस्था से न केवल बिलकुल अलग है, जिसे वर्तमान में जाति या वर्ण कहते हैं, बल्कि वह वर्तमान में चालू प्रणाली के किसी भी आधार को स्वीकार नहीं करते। शायद यही कारण रहा है कि गाँधीजी ने वर्तमान रूप के किसी भी तरह के वर्ण-विभाजन को वास्तविक मानने से इनकार करते हुए स्पष्ट घोषणा की : *आज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल लेबल हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ, वर्ण को लेकर पूर्ण भ्रम फैला हुआ है और मैं चाहता हूँ कि सभी हिन्दू स्वेच्छापूर्वक अपने को शूद्र घोषित कर दें। ब्राह्मणवाद के सत्य को प्रज्ञापित करने का और वास्तविक वर्णधर्म के पुनरुद्धार का यही एकमात्र रास्ता है* (हरिजन 25 मार्च, 1933)।

कुछ स्मृतियों आदि को उद्धृत करते हुए यह आपत्ति की जा सकती है कि गाँधीजी की वर्णधर्म की यह व्याख्या शास्त्रसम्मत नहीं है और वर्णधर्म में उच्चावच क्रम को न केवल अनिवार्यतः स्वीकार किया गया है, बल्कि निम्न वर्गों के लिए कई स्थानों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं और शूद्रों की प्रताड़ना और उत्पीड़न का कई स्थलों पर स्पष्ट समर्थन किया गया है। लेकिन गाँधीजी की दृष्टि इस बारे में बिलकुल साफ़ है। वह इस तरह के किसी भी भेदभाव या उत्पीड़न-प्रताड़न को ऐतिहासिक प्रवाह में आ गयी विकृति ही मानते हैं जिस का असर उस दौर में व्यवस्थित या निरूपित हुई शास्त्रदृष्टि पर पड़ना भी स्वाभाविक है। गाँधीजी सनातन धर्मदृष्टि के मूल तत्त्व को पकड़ते हुए उस के आधार पर सभी संस्थाओं-प्रथाओं के औचित्य और प्रासंगिकता को समझना चाहते हैं। 1922 में *यंग इण्डिया* के एक अंक में इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्थिति बिलकुल स्पष्ट कर दी थी : *हिन्दू शास्त्रों में मेरा विश्वास, उन के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को दैवी प्रेरणा से रचित मानने को मुझे बाध्य नहीं करता.... चाहे कितनी ही पाण्डित्यपूर्ण क्यों न हो, मैं ऐसी किसी भी व्याख्या से बद्ध होने से इनकार करता हूँ जो विवेक और नैतिक बोध के प्रतिकूल हो।* इस से पूर्व 1921 में ही वह लिख चुके थे कि *निज का अनुभव ही अन्तिम पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। लिखित शब्द निःसन्देह हमारी सहायता करता है पर उसे भी व्याख्या की जरूरत होती है और जब व्याख्याएँ परस्पर विरोधी हों तो अन्वेषक ही वास्तविक निर्णायक होता है।* गाँधीजी की मूल दृष्टि अभेद या अद्वैत को स्वीकार करती है जो कि भारतीय ज्ञान परम्परा की भी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है और वे इसी आधार पर न केवल अहिंसा के सिद्धान्त की दार्शनिक प्रतिष्ठा करते हैं, बल्कि उसे ही सभी सामाजिक व्यवहारों की मूल प्रेरणा और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
कसौटी के रूप में स्थापित करते हैं। अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं : *सत्य के सार्वभौमिक और सर्वव्यापक रूप के साक्षात्कार के लिए हमें क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को भी उतना ही प्रेम करने के योग्य होना चाहिए जितना अपने को।* यही कसौटी है जिस के आधार पर गाँधीजी सभी मुद्दों को समझने और उन की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करते हैं और यह वही कसौटी है जिसे महाभारतकार ने *आत्मानां प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्* कह कर स्वीकृति दी है।

वर्णधर्म को ले कर गाँधीजी की अवधारणा पर एक और आपत्ति यह भी की जा सकती है कि पैतृक व्यवसाय को आधार मानने के कारण गाँधीजी एक बड़े समूह को न केवल शारीरिक श्रम से ही स्थायी तौर पर बाँध देते हैं, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी उन्हें सदैव अन्य वर्णों की अपेक्षा अलाभकर स्थिति में ही रखना चाहते हैं। लेकिन गाँधीजी की दृष्टि को उस की समग्रता में समझने पर यह आपत्ति निराधार लगती है। पहली बात तो यह है कि गाँधी-दृष्टि में शारीरिक श्रम कोई हेय वस्तु नहीं है, बल्कि गाँधीजी प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य मानते हैं—वह श्रम भी, जिसे वर्तमान समाज में हेय माना जाता रहा है। उन के आश्रमों में रहने वालों के लिए केवल सामान्य शारीरिक श्रम ही नहीं, बल्कि शौचालय की सफ़ाई भी एक अनिवार्य कर्तव्य था। दूसरी आपत्ति आर्थिक अलाभकर स्थिति को ले कर है। लेकिन यहाँ भी हम यह भूल रहे होते हैं कि गाँधीजी जिस विकेन्द्रीकृत और स्वदेशी तकनीक पर आधारित ग्रामोद्योग की अर्थव्यवस्था की कल्पना करते हैं, उस में आर्थिक साधनों का समुचित वितरण एक ऐसी अनिवार्यता है जिस में किसी भी तरह के आर्थिक शोषण या पूँजी के केन्द्रीकरण की कोई सम्भावना ही नहीं बचती।

इस लिए श्रम-विभाजन के आधार पर पैतृक वर्ण-विभाजन ही दरअस्ल रोज़गार की गारण्टी भी हो जाता है, जिस के लिए सभी आधुनिक शिक्षाशास्त्री और समाजवादी विचारधारा वाले लोग लड़ते रहे हैं। ध्यातव्य है कि पैतृक व्यवसाय के आधार पर एक क़िस्म का वर्ण-विभाजन भारतीय मुसलमानों और ईसाइयों में भी मिल जाता है, चाहे औपचारिक तौर पर उसे वर्ण न भी कहा जाय। इस प्रकार यह पूरे भारतीय समाज का आधार हो जाता है। यह भी गौरतलब है कि पैतृक व्यवसाय के आधार पर यह विभाजन कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यह एक सामान्य नियम तो है पर इस में अपवाद की छूट बराबर रहती है क्यों कि यदि हम किसी को उस के नैसर्गिक गुणों और प्रतिभा के आधार पर विकास के अवसर नहीं देते या उसे दबाते हैं तो यह अहिंसा की उस मूल दृष्टि का ही उल्लंघन है, जो गाँधी विचार का केन्द्रीय आधार है। इस लिए गाँधीजी जब वर्णधर्म को अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह करते हैं तो यह समाजशास्त्रीय आग्रह से अधिक अर्थशास्त्रीय आग्रह हो जाता है क्यों कि इसी के आधार पर स्वदेशी तकनीक पर आश्रित उस ग्रामोद्योग व्यवस्था का विकास होता है जो न केवल शोषणमुक्त रोज़गार उपलब्ध करवाती है, बल्कि सब के आत्मसम्मान और मानवीय श्रम की गरिमा को भी प्रतिष्ठित करती है—और इस प्रकार यह सामाजिक विभाजन अपने-आप में एक सामाजिक प्रौद्योगिकी की भूमिका अख़्तियार कर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इस बात की अकसर अनदेखी की जाती रही है कि गाँधी-विचार में एक महत्त्वपूर्ण मानवीय संसाधन मानी जाने वाली शिक्षा का भी बुनियादी आधार पैतृक व्यवसाय पर आधारित वर्ण-व्यवस्था ही है। गाँधीजी जिस *बुनियादी शिक्षा* या *नयी तालीम* के प्रवक्ता थे, उस का मुख्य आधार भारत का ग्रामप्रधान पर्यावरण है। बुनियादी शिक्षा का केन्द्रीय उद्देश्य एक अहिंसक समाज के लिए अहिंसक और स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण करना है। सामान्यतः बुनियादी शिक्षा को *लर्निंग बाइ डूइंग* या *कर के सीखो* तक सीमित कर उसे कुछ दस्तकारियों आदि की शिक्षा मान लिया जाता है। निश्चय ही वह आजीविका-कौशल की भी शिक्षा है जो कि हर शिक्षा-पद्धति को होना ही चाहिए—लेकिन उस का वास्तविक उद्देश्य एक ऐसे स्वावलम्बी व्यक्ति का निर्माण करना है जिस का अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ—प्राकृतिक और मानवीय, दोनों तरह के परिवेश के साथ— अहिंसात्मक और सृजनात्मक रिश्ता हो। गाँधीजी की शिक्षा-प्रक्रिया का उद्देश्य आत्मनिर्भर व्यक्ति का विकास है, अतः यह ज़रूरी है कि उस की प्रक्रिया भी आत्मनिर्भर हो, अर्थात् शिक्षार्थी की शिक्षा का भार वह स्वयं उठा सके। साधन और साध्य यदि एक हैं तो आत्मनिर्भर व्यक्ति और समाज का साध्य निश्चित करने वाली शिक्षा को अपनी प्रक्रिया में भी अहिंसक और आत्मनिर्भर होना होगा।

गाँधीजी के शिक्षा चिन्तन को आजकल व्यापक समाज के लिए असफल मान लिया गया है और अब कहीं-कहीं उसे एक कर्मकाण्ड की तरह लिया जा रहा है—समाज में प्रचलित और स्वीकृत शिक्षा-संस्थाएँ सामान्य तौर पर उस से अपने को अलग ही रखे हुए हैं। लेकिन यहाँ यह विचारणीय है कि कोई भी शिक्षा-पद्धति तभी सफल हो सकती है जब हम उस की पृष्ठभूमि में सक्रिय तत्त्व-दर्शन और मूल्य-दर्शन के अनुरूप समाज-रचना करना चाहें। दरअस्ल, हम जिस समाज-रचना की ओर आकर्षित होते गये हैं, वह एक हिंसक मनोवृत्ति वाले समाज का ढाँचा है, जो राज्यसत्ता और अर्थसत्ता के केन्द्रीकरण पर टिका है तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आश्रित होने की वजह से प्रकृति और परिवेश के साथ मूलतः हिंसक मनोवृत्ति रखता है।

जब हम एक अहिंसक प्रौद्योगिकी अर्थात् स्वदेशी तकनीक को अपनी अर्थ-व्यवस्था का आधार बनायें तभी वर्णधर्म और बुनियादी शिक्षा की सार्थकता समझ में आ सकती है। बुनियादी शिक्षा मूलतः ग्रामोद्योगों से सम्बन्धित शिल्प के प्रशिक्षण को अपना केन्द्रीय आधार बनाती है ताकि शिक्षार्थी स्वावलम्बी बन सकें। यहाँ यह स्मरणीय है कि पैतृक व्यवसायों पर आधारित सामाजिक संरचना में ग्रामीण शिल्पों के प्रशिक्षण के लिए किसी औपचारिक प्रशिक्षण केन्द्र या शाला की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। प्रत्येक बालक का घर ही उस का प्रशिक्षण केन्द्र हो जाता है और उस का पिता या संरक्षक उस का अध्यापक। इस प्रशिक्षण का ही नहीं, अपना अन्य व्ययभार भी वह बालक स्वयं ही उठाता है क्यों कि प्रशिक्षण के दौरान उस के द्वारा किये गये काम से उस के परिवार की आर्थिक मदद होती है—चाहे वह पशुपालन का प्रशिक्षण ले रहा हो, या बढ़ईगिरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

या दर्ज़ीगिरी या कढ़ाई-बुनाई आदि का। दरअस्ल, पैतृक व्यवसाय पर आधारित समाज की शिक्षा-व्यवस्था से ही बुनियादी शिक्षा की अवधारणा निकलती है, अतः एक ऐसे समाज में ही वह सफल भी हो सकती है। अन्यथा किसी एक शाला के लिए न तो कई तरह की दस्तकारियों का कुशल प्रशिक्षण देना सम्भव हो सकता है और न ही इस प्रशिक्षण के दौरान उत्पादित माल बाज़ार में अन्य माल से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। लेकिन प्रशिक्षण लेते हुए अपने परिवार के कुशल सदस्यों के उत्पादन में सहायक हो कर बालक परिवार के आर्थिक जीवन में अपना योगदान भी करता है और अपने व्यवसाय के बारे में उस का ज्ञान तथा आत्मविश्वास भी बढ़ता रहता है। यह शिक्षा का विकेन्द्रीकरण है।

गाँव की सामान्य शिक्षण संस्था की भूमिका तब इस में इतनी ही होगी कि वह साक्षरता और अन्य सामान्य ज्ञान को उन ग्रामीण शिल्पों पर आधारित प्रक्रिया से बालक तक पहुँचाये जिन का प्रशिक्षण वह अपने पारिवारिक और स्थानीय ग्रामीण परिवेश में ले रहा हो, ताकि उस की साक्षरता व्यावहारिक या क्रियामूलक हो सके और उसे अपने शिल्प के व्यावहारिक प्रशिक्षण के साथ-साथ उस के पीछे सक्रिय सिद्धान्तों की जानकारी मिल सके। अपने शिल्प में सुधार या उस से सम्बन्धित नये आविष्कार करने के लिए यह सैद्धान्तिक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। अपने परिवेश के साथ अन्तरंग रिश्ता महसूस करने तथा स्थानीय संसाधनों पर आधारित उत्पादन-प्रक्रिया का व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के कारण शिक्षार्थी के लिए यह स्वाभाविक होगा कि वह इन संसाधनों को कम-से-कम नष्ट करते हुए उन का अधिकाधिक उपयोग करने की ओर उन्मुख हो अर्थात् परिवेश के साथ उस का रिश्ता अहिंसक और सृजनात्मक हो। और यह तो स्पष्ट ही है कि यह शिक्षा मातृभाषा के अलावा अन्य किसी भी माध्यम से सम्भव नहीं हो सकेगी। इन आधारों पर विकसित शिक्षा-पद्धति, गाँधीजी के शब्दों में, *बुद्धि, शरीर और आत्मा, तीनों का विकास करती है।* दिसम्बर, 1947 ई. में *हरिजन* के एक अंक में महात्मा गाँधी लिखते हैं : *वस्तुतः नयी तालीम की जड़ें और भी गहरी जाती हैं। वे मानव-क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य और प्रेम की प्रयुक्ति तक फैली हुई हैं। हस्तशिल्पों के माध्यम से शिक्षा देने की धारणा इस विचार से उद्भूत है कि जीवन के कार्यकलाप सत्य और प्रेम से व्याप्त होने चाहिएं। प्रेम की अपेक्षा है कि सच्ची शिक्षा सभी को सरलता से प्राप्य होनी चाहिए और वह प्रत्येक ग्रामवासी के दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी होनी चाहिए। ऐसी शिक्षा पुस्तकों से नहीं ग्रहण की जाती और न वह उन पर निर्भर होती है। इस का धार्मिक पन्थों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि इस का धर्म से कोई सम्बन्ध माना जा सकता है तो वह सार्वभौम धर्म है जिस से सभी धार्मिक पन्थ निकलते हैं। इस लिए यह शिक्षा जीवन की पुस्तक से ग्रहण की जाती है जिस पर कोई लागत नहीं आती और जिसे दुनिया की कोई ताक़त आप से नहीं छीन सकती।* सत्य और प्रेम से युक्त मानवीय संसाधन से ही सत्य और प्रेम से युक्त समाज बनाया जा सकता है—तभी मानवीय संसाधन और मानवीय साध्य में एकत्व की सिद्धि सम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आध्यात्मिक नारीवाद की प्रस्तावना

नारीवादी विमर्श का केन्द्रीय मूल्य है स्त्री के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और एक अहिंसक समाज का वास्तविक तात्पर्य है सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्वीकृति और सम्मान, क्यों कि यदि सामाजिक सम्बन्ध किसी भी प्रकार के दमन-शोषण-उत्पीड़न पर टिके हों तो उन्हें अहिंसक नहीं कहा जा सकता। इस लिए नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के बिना किसी भी प्रकार के अहिंसक समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। नर-नारी समानता इसी लिए अहिंसक समाज की एक अनिवार्य पूर्व-शर्त है। यहाँ मुझे आचार्यश्री महाप्रज्ञ के एक व्याख्यान का स्मरण हो आता है जिस में उन्होंने प्रतिपादित किया था कि मूल्य तो समता है और अहिंसा उस मूल्य की सिद्धि की प्रक्रिया अर्थात् समता साध्य और अहिंसा साधन। समता केवल भौतिक नहीं, आध्यात्मिक भी। यदि हम सभी आत्माओं को समान नहीं मानते तो भौतिक स्तर पर भी उन की समानता का औचित्य सिद्ध करना मुश्किल होगा।

महात्मा गाँधी जीवन को मूलतः एक नैतिक साधना मानते हैं—सत्य की साधना—और जीवन का यह प्रयोजन जितना पुरुष के लिए महत्त्वपूर्ण है, उतना ही स्त्री के लिए भी। पुरुष और नारी के जीवन-मूल्य भिन्न नहीं हो सकते—चाहे भौतिकवादी दर्शन-प्रणाली से विचार किया जाय अथवा अध्यात्मवादी पद्धति से। यह उल्लेखनीय है कि सामान्यतः आध्यात्मिकता का आग्रह करने वाले विचारकों में स्त्री के अधिकारों या उस के जीवन के प्रयोजन को ले कर इतनी खुली स्वीकृति कम ही दिखायी देती है। बुद्ध तक ने अपने संघ में स्त्रियों को शामिल होने की अनुमति देते हुए सन्देह प्रकट किया था कि जो संघ हज़ार वर्ष तक चलता, वह अब केवल पाँच सौ वर्ष तक ही चल पायेगा। कबीर तथा अधिकांश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मध्यकालीन सन्तों के लिए तो वह नरक का द्वार ही थी। अभी भी अधिकांश धर्मसंघों का नेतृत्व पुरुष ही करते हैं—यह मानते हुए भी कि धार्मिक निष्ठा में सामान्यतः स्त्रियाँ पुरुषों से आगे रहती हैं।

इस दृष्टि से महात्मा गाँधी का स्त्री-विमर्श विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय समाज में स्त्रियों के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश में तो महात्मा गाँधी के आन्दोलनों की उल्लेखनीय भूमिका रही ही है, लेकिन, एक विचारक के रूप में भी उन्हें एक मुकम्मल नारीवादी कहा जा सकता है—उन के नारीवाद को उन की नैतिक-आध्यात्मिक दृष्टि से अलग कर के नहीं समझा जा सकता—लेकिन उन की नैतिकता की अवधारणा की व्याप्ति में सारा भौतिक जीवन भी समाहित है।

स्त्री-पुरुष समानता का मुख्य आधार है नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और इस प्रतिष्ठा का मूल तत्त्व है : अपने अस्तित्व पर नारी का अपना अधिकार। स्वतन्त्र व्यक्तित्व का तात्पर्य है कि उस का अस्तित्व किसी अन्य का उपकरण नहीं है। यही कारण है कि जब महात्मा गाँधी स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का आग्रह करते हैं तो सर्वप्रथम उन का ध्यान इसी बात की ओर जाता है कि स्त्री को उपकरण—टूल—न समझा जाय। स्त्री का उपकरण बनाया जाना ही उस के प्रति हिंसा का मूल कारण है। लेकिन विडम्बना यह है कि स्वयं स्त्री भी अपने को वैसा ही मानने लगी है जैसे उस के जीवन का प्रयोजन पुरुष-केन्द्रित हो। इस लिए स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की प्रक्रिया में महात्मा गाँधी के लिए प्राथमिक महत्त्व की बात यह है कि स्त्री इस पुरुष-केन्द्रित जीवन-प्रयोजन की अवधारणा से मुक्त हो कर अपने को *उपकरण* नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र अस्तित्व समझे। इसी लिए महात्मा गाँधी कहते हैं : *स्त्री को चाहिए कि वह स्वयं को पुरुष के भोग की वस्तु मानना बन्द कर दे। इस का इलाज पुरुष की अपेक्षा स्वयं स्त्री के हाथों में ज़्यादा है। उसे पुरुष की ख़ातिर, जिसमें पति भी शामिल है, सजने से इनकार कर देना चाहिए। तभी वह पुरुष के साथ बराबर की साझीदार बन सकेगी।* वह स्त्रियों को काम-वासना की पूर्ति का माध्यम मानने वाली पुरुष-मनोवृत्ति की आलोचना करते हुए स्त्रियों से आग्रह करते हैं कि उन्हें इस प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह कर देना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में—*यदि मैंने स्त्री के रूप में जन्म लिया होता तो मैं पुरुष के इस दावे के विरुद्ध विद्रोह कर देता कि स्त्री उस के मनबहलाव के लिए पैदा हुई है।* वह तो यहाँ तक कह देते हैं कि स्त्री को काम-वासना की पूर्ति का माध्यम बना देने के कारण संसार उन के वास्तविक अवदान से वंचित हो गया है, क्यों कि उसी कारण स्त्री अपनी अन्तर्निहित शक्ति का प्रयोग संसार के कल्याण के लिए नहीं कर पायी है। टॉलस्टॉय के हवाले से गाँधी कहते हैं कि स्त्री पुरुष के सम्मोहन से आक्रान्त कर दी गयी है जब कि वह, वस्तुतः, पुरुष से श्रेष्ठ है। वह लिखते हैं : *यदि पुरुष ने अपने अविवेकपूर्ण स्वार्थ के वशीभूत हो कर स्त्री की आत्मा को इस तरह न कुचला होता और स्त्री 'आनन्दोपभोग' की शिकार न बन गयी होती तो उस ने संसार को अपनी*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अन्तर्निहित अनन्त-शक्ति का परिचय दे दिया होता। जब स्त्री को पुरुष के बराबर अवसर प्राप्त हो जायेंगे और वह परस्पर सहयोग और सम्बन्ध की शक्तियों का पूरा-पूरा विकास कर लेगी तो संसार स्त्री-शक्ति का उस की सम्पूर्ण विलक्षणता और गौरव के साथ परिचय पा सकेगा।

यही कारण है कि महात्मा गाँधी स्त्री का अपनी देह पर अधिकार इस सीमा तक स्वीकार करते हैं कि यदि पति भी पत्नी के पास केवल वासना-पूर्ति के प्रयोजन से जाय तो पत्नी को उसे मना कर देने का पूरा अधिकार है। वह इसे भी सत्याग्रह का एक रूप बताते हुए कहते हैं कि—*विवाह का आदर्श है शारीरिक सम्मिलन के माध्यम से आध्यात्मिक सम्मिलन की प्राप्ति। विवाह के फलस्वरूप जिस मानव-प्रेम की अवतारणा होती है, वह दिव्य अथवा सार्वभौम प्रेम तक पहुँचने की एक सीढ़ी है।* इस लिए विवाह का वास्तविक प्रयोजन एक-दूसरे के आत्मिक उत्कर्ष में सहयोगी होना है। यह दोनों के आत्मिक उत्कर्ष की संयुक्त साधना है। लेकिन यदि विवाह इस प्रयोजन को पूरा नहीं करता और केवल वासना-पूर्ति का माध्यम बन कर रह जाता है तो विवाह के वास्तविक प्रयोजन से भटक कर वह ऐन्द्रिक सन्तुष्टि मात्र रह जाता है—उस में से वह प्रेम-तत्त्व मिट जाता है जो ईश्वर के निकट या आत्मोत्कर्ष अथवा आत्मसिद्धि की ओर ले जाता है। लेकिन, यह उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी काम-वासना की पूर्ति से ऊपर उठने की बात करते हुए भी काम-प्रेरित सम्भोग को पाप या कलंक नहीं मानते। वह लिखते हैं : *काम-वासना की तुष्टि के लिए किया गया सम्भोग पशुत्व की ओर प्रत्यावर्तन है, अतः मनुष्य को इस से ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिए। लेकिन पति-पत्नी यदि ऐसा करने में असफल हो जायें तो इसे पाप अथवा कलंक का विषय नहीं माना जा सकता।* गाँधीजी के लिए इस का अर्थ केवल इतना ही है कि पशुत्व से मुक्ति की साधना अधूरी है और उस के लिए अधिक प्रयास की आवश्यकता है। यह उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी नारी को *नरक का द्वार* नहीं मानते—जैसा कि कबीर मानते हैं—बल्कि वे पुरुष को काम-वासना के लिए अधिक आक्रामक एवं जिम्मेदार मानते और नारी को उस से सम्मोहित बताते हैं क्यों कि पुरुष-प्रधान व्यवस्था के कारण स्त्री अपनी सार्थकता पुरुष में खोजने की आदी बना दी गयी है।

बहुत-से मित्रों को इस बात पर आश्चर्यमिश्रित दुख हो सकता है कि विवाह के आत्मिक उत्कर्ष में बाधा बन जाने पर महात्मा गाँधी विवाह-बन्धन को तोड़ने के अधिकार को भी मान्यता दे देते हैं। विवाह, उन की दृष्टि में, अनुशासन की एक व्यवस्था है और *यदि एक साथी अनुशासन को तोड़े तो दूसरे को विवाह-बन्धन को तोड़ने का हक़ पहुँचता है। यहाँ 'तोड़ना' नैतिक अर्थ में है, भौतिक अर्थ में नहीं।* महात्मा गाँधी इस बन्धन-विच्छेद को तलाक़ नहीं मानते। वह कहते हैं कि *पति या पत्नी उसी ध्येय की पूर्ति के लिए अलग होंगे जिस के लिए वे विवाह-बन्धन में बँधे थे।* वह यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि यदि तलाक़ ही एकमात्र विकल्प हो तो नैतिक प्रगति में बाधा डालने के बजाय उस विकल्प को अपनाना बेहतर होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महात्मा गाँधी आर्थिक स्तर पर भी स्त्री के आत्मनिर्भर होने का समर्थन करते हैं। यद्यपि वे गृहस्थी के कर्तव्यों को ही स्त्री के लिए प्राथमिक मानते हैं, लेकिन, साथ ही, यह स्पष्ट कर देते हैं कि स्त्रियों को *ऐसी किसी क़ानूनी नियोंग्यता का शिकार नहीं बनाया जाना चाहिए जो पुरुष पर लागू नहीं होती।* महात्मा गाँधी यह मानते हैं कि हमारे नीति-नियम स्त्रियों के साथ न्याय नहीं करते और इस लिए वह एक ऐसा प्रस्ताव करते हैं जो संस्कृति के कथित पहरेदारों को उत्तेजित कर सकता है। वह कहते हैं कि शास्त्रों का सम्पादन कर के उन बातों को निकाल दिया जाना चाहिए जो स्त्रियों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा तथा उन के आत्मोत्कर्ष में बाधक हों और इस के लिए वह स्वयं स्त्रियों से ही आगे आने का आग्रह करते हैं। वह लिखते हैं : *इस के लिए हमें सीता, दमयन्ती और द्रौपदी जैसी निर्मल, दृढ़ और आत्मनियन्त्रित महिलाएँ पैदा करनी होंगी। यदि हम यह कर सकें तो हिन्दू समाज इन आधुनिक बहिनों को भी वही आदर देगा जो वह बीते युग की महान देवियों को देता आया है। उन के शब्द भी शास्त्र के समान प्रामाणिक माने जाएँगे। हम अपनी स्मृतियों में उन पर कहीं-कहीं किए गए आक्षेपों के लिए शर्म महसूस करेंगे और जल्दी ही उन्हें भुला देंगे।*

यह उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी यौन-शिक्षा का भी समर्थन करते हैं। उन का तर्क है कि इस शिक्षा के बिना काम के आवेग को जीतना और उस का उदात्तीकरण करना सम्भव नहीं है। उन का कहना है कि इस शिक्षा से—*बच्चों के मन में अपने-आप यह बात घर कर जानी चाहिए कि मनुष्य और पशु के बीच एक मौलिक भेद है और वह यह कि प्रकृति ने मनुष्य को सोचने और महसूस करने, दोनों की योग्यताएँ दे कर विशेष रूप से उपकृत किया है।* महात्मा गाँधी कहते हैं कि जिन लड़के-लड़कियों के प्रशिक्षण का दायित्व उन पर था, उन्हें उन्होंने, अपने तरीक़े से, यह ज्ञान देने का प्रयत्न किया है, क्यों कि उस के बिना वे ऐसा ज्ञान चुरा कर प्राप्त करते जिस से उन के भटकने की अधिक सम्भावना होती।

दरअस्ल, महात्मा गाँधी के अनुसार यदि जीवन एक नैतिक-आध्यात्मिक साधना है तो स्त्रियों को उन सब बातों को अस्वीकार कर देना चाहिए जो उन की इस नैतिक साधना में बाधक हों। इस के लिए सर्वाधिक अनिवार्य है अपनी स्वतन्त्रता और समानता का आग्रह, क्यों कि स्वतन्त्रता के बिना नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। नैतिक नियम आत्मोत्कर्ष का माध्यम तभी बनते हैं जब वे आत्म-प्रसूत या स्वतन्त्र वरण हों, आरोपण नहीं। इसी लिए महात्मा गाँधी स्त्रियों से स्वतन्त्रता के दमन के विरुद्ध अहिंसक विद्रोह का प्रस्ताव करते हैं। उन्हीं के शब्द हैं : *इस लिए स्त्रियों को मेरी सलाह है कि वे सभी अवांछनीय और निकम्मी बन्दिशों के ख़िलाफ़ सविनय विद्रोह करें। बन्दिशें वे ही फ़ायदा पहुँचा सकती हैं जो स्वैच्छिक हों। सविनय विद्रोह से कोई हानि होने की आशंका नहीं है, क्यों कि उस के मूल में शुद्धता और सुविवेचित प्रतिरोध होते हैं।*

महात्मा गाँधी पुरुषों से भी स्त्रियों को उन का उचित स्थान देने का आग्रह करते हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लेकिन वह स्त्रियों को पुरुषों के अनुग्रह पर नहीं छोड़ देते, बल्कि अपने अधिकारों के लिए स्त्रियों से संघर्ष का आह्वान करते हैं : *पुरुष के फन्दे से आजाद हो कर स्त्री जब अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होगी और पुरुषकृत विधान तथा उस के द्वारा संगठित संस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह करेगी तो उस का विद्रोह अहिंसक होते हुए भी बड़ा प्रभावकारी सिद्ध होगा।* कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि महात्मा गाँधी स्त्रियों से आत्म-बलिदान और त्याग आदि गुणों की अपेक्षा करते और इस प्रकार उन्हें प्रकारान्तर से कष्ट उठाते रहने के लिए प्रेरित करते हैं। लेकिन त्याग और बलिदान की अपेक्षा तो वह पुरुषों से भी करते हैं तथा उन्हें भी अन्याय के प्रतिकार के लिए अहिंसक तरीक़े अपनाने की सलाह ही देते हैं। लेकिन, यह उल्लेखनीय है कि वह बलात्कार की परिस्थिति में स्त्रियों से हिंसा-अहिंसा का विचार छोड़ कर अपनी रक्षा करने का समर्थन करते हैं। दरअस्ल, स्त्री को वासना-पूर्ति का उपकरण मात्र मानना ही उस के साथ हो रहे अन्याय के मूल में है और इसी लिए गाँधी यह अनिवार्य मानते हैं कि जब तक उस के अस्तित्व को वासना-पूर्ति से अलग कर के नहीं देखा जाता, तब तक एक व्यक्ति के रूप में उस का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सत्याग्रही राज्य

पिछले कुछ अरसे से सेकुलरवाद या धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को लेकर काफ़ी बहस होती रही है। लेकिन इस बहस में अकसर यह बात भुला दी जाती है कि धर्मनिरपेक्षता पर कोई भी बहस वस्तुतः धर्म के सन्दर्भ में राज्य और समाज के रिश्तों पर बहस है। सेकुलरवाद का विकास यूरोप में राज्य की सम्प्रभुता के विकास के साथ-साथ हुआ है। सम्प्रभु राज्य की अवधारणा के अन्तर्गत राज्य किसी समाज के बहुत-से संगठनों में से एक नहीं बल्कि समाज का स्वामी या संचालक हो जाता है। धर्म एक समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना की अभिव्यक्ति है, जब कि राज्य उस की राजनीतिक संवेदना की अभिव्यक्ति। लेकिन राज्य की सम्प्रभुता का अर्थ है समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना और उस की अभिव्यक्ति का राज्यतन्त्र के अधीन आ जाना। राज्यतन्त्र और राजनीतिक संवेदना में उतना ही अन्तर है जितना नैतिक-आध्यात्मिक संवेदना और धर्मतन्त्र में। यूरोप में भी राजनीतिक संवेदना और आध्यात्मिक संवेदना में वस्तुतः वह संघर्ष नहीं था जो राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र में हुआ और अपनी-अपनी बुनियादी संवेदना से शून्य होते चले जाने के कारण दोनों ही जड़ हो कर केवल तन्त्र होते गये और इसी कारण तन्त्र की प्रतिष्ठा के लिए दोनों ही अपने-अपने तरीक़े से अत्याचारी भी हुए।

धर्म किसी भी सभ्यता की अन्तरात्मा है और राज्यतन्त्र तथा धर्मतन्त्र दोनों उस का बाह्यानुशासन है, लेकिन जब हम बाह्यानुशासन को अन्तरात्मा पर थोप देते हैं तो उस से एक प्रकार का फाशीवाद पैदा होता है, जिस का बाह्य स्वरूप इस पर निर्भर करता है कि थोपा जाने वाला अनुशासन धर्मतन्त्रीय है या राज्यतन्त्रीय अर्थात् सम्प्रभुता धर्मतन्त्र में है या राज्यतन्त्र में। जब समाज अपनी आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना को धर्मतन्त्रीय सम्प्रभुता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के संचालन में रखना स्वीकार कर लेता है तो उस से साम्प्रदायिक राज्य अर्थात् थियोक्रैसी का जन्म होता है और जब सम्प्रभुता का स्वरूप पूरी तरह राज्यतन्त्रीय होता है तो उस से सेकुलरवाद या धर्मनिरपेक्ष राज्य का। लेकिन दोनों ही स्थितियों में समाज की सम्प्रभुता का अपहरण कर लिया जाता है और समाज धर्मतन्त्र अथवा राज्यतन्त्र का पिछलग्गू बना दिया जाता है। दोनों व्यवस्थाएँ सर्वाधिकारवादी होती हैं। यही फाशीवाद है।

यूरोप में सेकुलरवाद का संघर्ष वस्तुतः राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र के बीच सम्प्रभुता के लिए संघर्ष है, जिस में धर्मतन्त्र के संवेदनाहीन और जड़ होते चले जाने की वजह से समाज की गतिशीलता का समर्थन राज्यतन्त्र को मिलता गया—यद्यपि समाज धर्मतन्त्र के चंगुल से निकल कर राज्यतन्त्र और उस की प्रेरक शक्ति अर्थतन्त्र की सम्प्रभुता के चंगुल में फँसता चला गया। यह भुला दिया गया कि जीवन एक समग्रता है, इस लिए उस की आध्यात्मिक संवेदना और राजनीतिक संवेदना को दो अलग-अलग खाँचों में विभाजित नहीं किया जा सकता और यह भी कि आध्यात्मिक संवेदना से प्रसूत नैतिक संवेदना ही किसी समाज की राजनीतिक संवेदना की मूल प्रेरणा बन सकती है। इस आध्यात्मिक संवेदना से प्रसूत होने के कारण ही गाँधीजी अपनी राजनीति को भी आध्यात्मिक साधना की एक प्रक्रिया मानते थे और इसी कारण राजनीति को धर्म से समन्वित करने का आग्रह करते थे। गाँधीजी की राजनीति और धर्म के एक होने के बावजूद उन पर न धर्मतन्त्र हावी था और न राज्यतन्त्र। उन की राजनीति आध्यात्मिक-नैतिक थी, न कि थियोक्रैटिक या सेकुलर। लेकिन थियोक्रैटिक और सेकुलर के द्वन्द्व में फँसा हुआ आधुनिकतावादी मन इन दोनों कोटियों से अलग हो कर सोच ही नहीं पाता।

राज्य यदि समाज की राजनीतिक अभिव्यक्ति है तो उस के लिए सेकुलर होना सम्भव ही नहीं है क्यों कि कोई भी समाज सेकुलर नहीं है। लेकिन समाज के धार्मिक या आध्यात्मिक होने का तात्पर्य उस का साम्प्रदायिक या धर्मतन्त्रीय होना कतई नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि एक समाज की धार्मिक संवेदना अनिवार्यतः किसी एक ही धर्मतन्त्र या संगठन में प्रतिफलित हो। समाज के विभिन्न समूह विभिन्न धार्मिक संगठनों या पंथों के साथ जुड़े हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि किसी एक ऐतिहासिक धर्म के अन्तर्गत उस की कई शाखाएँ हों और उन में से प्रत्येक का अपना धर्मतन्त्र हो। दुनिया में शायद ही कोई धर्म होगा जिस में कुछ आन्तरिक मत-मतान्तर और उन के अपने धर्मतन्त्र न हों। इस का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज को धार्मिक होते हुए अनिवार्यतः धर्म-सहिष्णु या धर्म-समभावी होना होगा। सच तो यह है कि धार्मिक होने पर ही अन्य धर्मों के प्रति वास्तविक सम्मान रह सकता है—धर्मनिरपेक्षता या सेकुलरवाद में तो धर्म के सम्मान का मतलब ही क्या है? राज्य भी इसी लिए धर्मसहिष्णु या धर्म-समभावी हो कर ही समाज का वास्तविक प्रतिनिधि हो सकता है। अन्यथा वह धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म को अपनी राजनीति का एक औज़ार बना लेता है क्यों कि धर्म के प्रति कोई वास्तविक सम्मान या लगाव का भाव उस में रहता ही नहीं है। इस धर्म-समभाव का तात्पर्य यही है कि राज्य भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आध्यात्मिक संवेदना को तो स्वीकार करता है पर वह किसी एक धर्मतन्त्र से प्रेरित, संचालित अथवा उस के अनुयायियों के प्रति पक्षपातपूर्ण नहीं है। राज्य की सम्प्रभुता धार्मिक संवेदना को स्वीकार करते हुए भी किसी धर्मतन्त्र से निर्देशित या बाधित नहीं होगी और किन्हीं दो धर्मतन्त्रों के बीच विवाद होने पर उस का निर्णय किसी एक धर्मतन्त्र के नियमों या आग्रह के आधार पर नहीं बल्कि न्याय के प्रचलित सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं के आधार पर होगा।

लेकिन यहाँ कई सवाल आ उपस्थित होते हैं। क्या राज्य को किसी धर्मतन्त्र और उस के अनुयायियों के बीच हस्तक्षेप का अधिकार है? यदि राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र के बीच कोई विवाद हो जाये तो उस धर्मतन्त्र के अनुयायी की निष्ठा किस के साथ हो? क्या अपने धर्म को राज्य या राष्ट्र से अधिक महत्त्व देना राष्ट्रद्रोही होना है? कोई व्यक्ति अपने धर्म-विशेष का अनुयायी पहले है या राज्य अथवा राष्ट्र का नागरिक?

आज के सन्दर्भ में ये सभी सवाल महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं—लेकिन ये पैदा तभी होते हैं जब धर्म की बुनियाद से हमारा विचलन हो जाता है। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था कि एक विशेष अर्थ में वे हिन्दू पहले हैं और एक राष्ट्रवादी बाद में—यद्यपि हिन्दू होना और राष्ट्रवादी होना उन की दृष्टि में एक-दूसरे के अनिवार्य विरोध में नहीं हैं बल्कि हिन्दू होना उन्हें एक बेहतर राष्ट्रवादी बनाता है। गाँधीजी की यही बात कोई आस्थावान मुसलमान या ईसाई भी कह सकता है क्यों कि मोहम्मद साहब या ईसा में ईमान लाना और राष्ट्रवादी होना विरोधपूर्ण नहीं है। दरअस्ल, यह सवाल उसी तरह का एक कुतर्क है जैसे यह पूछना कि कोई अपनी माँ का पुत्र पहले है या पिता का।

लेकिन यह सवाल तब महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब हम धार्मिक होने का अर्थ किसी धर्मतन्त्र और धर्माधिकारियों का अन्धानुयायी होना मान लेते हैं। राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र के बीच विवाद तभी पैदा होता है जब ये दोनों या कोई एक भी अपनी मर्यादा की परिधि लाँघना चाहता है। मर्यादा लाँघने की यह आवश्यकता अधिकांशतः तभी पड़ती है जब दोनों या उन में से कोई एक अपने तन्त्र को उस उद्देश्य से अधिक महत्त्व देने लगता है, जिस के लिए उस का विकास या निर्माण हुआ है। यदि धर्म केवल विश्वास या उपासना पद्धति ही होता तो शायद राज्य के साथ उस का अधिक विवाद नहीं होता—यद्यपि नरबलि जैसे विश्वासों या पद्धतियों का विरोध राज्य को तब भी करना पड़ता। लेकिन धर्मतन्त्र अपने को एक सामाजिक व्यवस्था या जीवन प्रणाली भी मानते हैं, उन की अपनी आचार-संहिताएँ हैं और वे उन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

राज्य का मुख्य कर्तव्य इस तरह से कार्यों का संचालन करना है जिन से समाज में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था सुचारु रह सके। इसी लिए यह देखना उस की परिधि में आता है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति कोई अन्य व्यक्ति या तन्त्र अन्याय न कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सके। राज्य स्वयं भी एक अन्यायी तन्त्र में बदल सकता है, इस लिए राजनीतिक दर्शन में स्वयं राज्यतन्त्र के अन्याय का विरोध कर सकने की भावना और व्यवस्था विकसित करने का आग्रह किया जाता रहा है। पारम्परिक और आधुनिक, दोनों ही तरह के राजनीतिक दर्शनों में यह विचार मान्यता प्राप्त है। इस का स्पष्ट निहितार्थ यही है कि व्यक्ति या समाज की सम्प्रभुता स्वयं उसी में निहित है और राज्य को उस का उपयोग करने का नैतिक अधिकार तभी तक है जब तक वास्तविक सम्प्रभु वैसा चाहे। यदि राज्य समाज के वास्तविक हितों के विरुद्ध आचरण करे तो वह कम से कम नैतिक स्तर पर तो यह अधिकार खो ही देता है और तब वास्तविक सम्प्रभु को नैतिक स्तर पर ऐसे राज्य का विरोध करने का अधिकार मिल जाता है—चाहे वैधानिक व्यवस्था कुछ भी हो। गाँधीजी के अनुसार तो ऐसे राज्य का विरोध करना उस का धर्म बन जाता है। सत्याग्रह अधिकार से पहले नागरिक का धर्म है।

जो बात राज्य और समाज के रिश्तों के लिए सच है, वही समाज और धर्मतन्त्र के रिश्तों पर भी लागू होती है। धर्मतन्त्र भी कई बार अपने अनुयायियों के वास्तविक हितों का विरोध करने लग जाता है। यदि कोई जैन, बौद्ध, हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम या सिख संगठन अपने अनुयायियों को हिंसक बनाने की कोशिश करता है, तो ऐसा करना इन धर्मों के मूल सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ काम करना है। यदि वह अपने आन्तरिक आचरण में भी अपने अनुयायियों के बीच सामान्य मानवीय संवेदना, न्याय और करुणा के सिद्धान्तों की अवहेलना करता है तो वह अपने अनुयायियों पर से नैतिक अधिकार खो देता है। ऐसी स्थिति में उस के अनुयायियों या उन के एक हिस्से को—बल्कि एक व्यक्ति तक को—नैतिक दृष्टि से यह अधिकार मिल जाता है कि वह अपने धर्मतन्त्र के विरोध में या उस से अलग रास्ते पर जा सके और राज्य का भी तब यह कर्तव्य बन जाता है कि वह विरोध करने, संशोधन की माँग रखने या अलग रास्ते पर जाने के उस के अधिकार की रक्षा करे। कई बार इस सम्बन्ध में व्यक्ति और समाज के द्वैत का भी सवाल उठाया जाता है, लेकिन तब हम यह भूल रहे होते हैं कि तन्त्र के विरुद्ध व्यक्ति को दिया गया अधिकार वस्तुतः समाज को ही दिया गया अधिकार है क्यों कि किसी-न-किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के माध्यम से ही समाज के अधिकार की पुष्टि होती है।

इस लिए राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र का संघर्ष, वस्तुतः, सम्प्रभुता के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। दोनों अपनी सम्प्रभुता का अबाध विस्तार चाहते हैं, इस लिए दोनों में टकराहट अवश्यम्भावी है। जिन देशों में राज्यतन्त्र इस संघर्ष में सफल भी हुआ है, वहाँ स्वयं उस ने धर्मतन्त्र का स्थान लिया है और समूचे जीवन को उस की कुण्डली की लपेट में आना पड़ रहा है।

इस लिए सवाल राज्य के थियोक्रैटिक या सेकुलर होने का उतना नहीं है, जितना यह कि वास्तविक सम्प्रभु कौन है। गाँधीजी की राजनीति यदि थियोक्रैटिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

और सेकुलर के खाँचों में नहीं अँट पाती और इन से ऊपर उठ कर सत्य या सत्याग्रह की राजनीति हो जाती है तो इस लिए कि वह अपनी मूल प्रेरणा में सदैव धार्मिक रहते हुए भी किसी धर्मतन्त्र से प्रभावित नहीं होती। यही कारण है कि अपने को एक परम्परावादी हिन्दू मानते हुए भी गाँधीजी अस्पृश्यता जैसे सामाजिक अन्यायों का विरोध और वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी अन्तरजातीय विवाहों, यहाँ तक कि हरिजन के साथ सवर्ण के विवाह का मुक्तमन से समर्थन कर सके। व्यक्ति, राज्य और समाज—तीनों के लिए यह समझना आवश्यक है कि वास्तविक सम्प्रभु सत्य है और उस का प्रमाण व्यक्ति और समाज की अन्तरात्मा है। राज्यतन्त्र और धर्मतन्त्र, दोनों बाह्य नियमानुशासन हैं, जिन्हें समय-समय पर सत्य अर्थात् अहिंसा और प्रेम की कसौटी पर परखते रहना आवश्यक हो जाता है।

इस अहिंसामूलक आध्यात्मिक संवेदना से प्रेरित गाँधीजी की राजनीतिक संवेदना से राज्य की जिस अवधारणा का विकास होता है वह न थियोक्रैटिक है, न सेकुलर—बल्कि वह एक सत्याग्रही राज्य है और सत्याग्रही होने की वजह से ही वह सम्प्रभुता-सम्पन्न नहीं रहता। सम्प्रभुता कहीं रहती है तो समाज में और समाज तभी प्रामाणिक समाज है जब वह अपनी अभिवृत्ति और आचरण में अहिंसा से प्रेरित है। दरअस्ल, हमें एक धर्मतन्त्रीय या धर्मनिरपेक्ष राज्य की नहीं, सत्याग्रही राज्य की ज़रूरत है क्यों कि सत्य ही धर्म की कसौटी है और धर्म है सत्य का आचरण।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शिक्षा में सत्याग्रह

शिक्षा का प्राथमिक उत्तरदायित्व किस के प्रति है? इस सवाल का लगभग सर्वसम्मत उत्तर होगा शिक्षार्थी के प्रति। लेकिन शिक्षार्थी के प्रति दायित्व का तात्पर्य क्या है? तात्पर्य है शिक्षार्थी में अन्तर्निहित सम्भावनाओं के प्रस्फुटन और विकास का माध्यम होना। लेकिन जब हम कहते हैं कि *शिक्षार्थी में अन्तर्निहित सम्भावनाओं का विकास* तो इस का तात्पर्य क्या है? *शेखर : एक जीवनी से* अज्ञेय के शब्द उधार लेकर कहें तो *जो मैं हूँ, वह मैं हो सकूँ।* यह हो सकना क्या है और इस के लिए क्या करणीय है?

यह सवाल किया जाना चाहिए कि यदि शिक्षा व्यक्ति की अन्तर्निहित सम्भावनाओं के मूर्त होने की प्रक्रिया है तो इस के लिए ऐसा कोई पाठ्यक्रम या पाठ्यचर्या कैसे बनायी जा सकती है, जो सभी पर एक साथ लागू होती हो? क्या सभी एक जैसे हैं या होने चाहिए। इस एकरूपीकरण का समर्थन लोकतान्त्रिक बोध वाला कोई व्यक्ति नहीं कर सकता—बल्कि ऐसा करना, यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो, प्रकृति के नियम के भी विरुद्ध होगा। प्रकृति में कुछ भी ऐसा नहीं है जो एक जैसा हो। समान गुणधर्म यानी एक जाति की प्रत्येक इकाई का अपना अलग वैशिष्ट्य होता है। एक पेड़ की अनगिन पत्तियों में से कोई भी पत्ती किसी दूसरी पत्ती से पूरी तरह कभी नहीं मिलती। ऐसा ही मनुष्यों के साथ भी है। कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता। रघुवीर सहाय के शब्दों में कहें तो प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय होता है और जब हम उसे एक सामान्य शिक्षा-प्रक्रिया से गुज़ार रहे होते हैं तो उस से उस के अद्वितीय होने का अर्थ उस का अन्य से अधिक अधिकारों या सुविधाओं का हक़दार होना नहीं है। सामान्यतः, हम अद्वितीयता या निरालेपन या वैशिष्ट्य को समानता का विरोधी मान लेते हैं। समानता समरूपता नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है, बल्कि जहाँ प्रत्येक की अद्वितीयता सुरक्षित है, वहाँ समानता स्वयमेव सुरक्षित हो जाती है।

लेकिन हमारी सभी शिक्षा-नीतियाँ या कार्यक्रम कुछ इस तरह की व्यवस्था करते हैं कि समानता के नाम पर असमानता की आधार-भूमि अपने-आप ही तैयार हो जाती है—यद्यपि यह कहना मुश्किल है कि यह अपने-आप हो जाना अनजाने होना भी है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट अन्तर्निहित सम्भावना होती है तो कोई भी समान पाठ्यक्रम कुछ व्यक्तियों के लिए अधिक अनुकूल होगा और उन लोगों के विकास में बाधा साबित होगा जिन की सम्भावनाएँ उस पाठ्यक्रम के अनुकूल नहीं हों। स्पष्ट है कि वे लोग इस पाठ्यक्रम के हिसाब से सफल या प्रतिभाशाली नहीं साबित हो सकेंगे और पिछड़ जाएँगे। ऐसा होने में शिक्षा असमानता पैदा करने का एक और कारण बन जायेगी।

दरअस्ल, इस का मूल कारण यह है कि पाठ्यक्रम या शिक्षा कार्यक्रम का निर्धारण करते समय हमारा लक्ष्य 'शिक्षार्थी' नहीं होता। हम उस समय शिक्षा के सामाजिक दायित्व की बात अधिक करते हैं और समाज की अपनी कल्पना के अनुरूप शिक्षार्थी का विकास करना चाहते हैं। *सामाजिक दायित्व* पद सुनने में बहुत आकर्षक और लगभग सर्वस्वीकृत लगता है—क्यों कि कौन होगा जो सामाजिक दायित्व को उपेक्षणीय कहने का साहस कर सकेगा? लेकिन, तब हमें इस पर विचार करना होगा कि *सामाजिक दायित्व* का तात्पर्य क्या है? वास्तव में, जब हम सामाजिक दायित्व की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य राज्य और नये सन्दर्भों में बाज़ार के प्रति दायित्व हो जाता है। दूसरे शब्दों में, हम उस शिक्षा को प्रासंगिक—बल्कि सार्थक—मानते हैं जो किसी भी व्यक्ति को बाज़ार और वर्तमान परिस्थिति में उस के एजेन्ट राज्य के अनुकूल बना सकती हो। सामाजिकता बाज़ार की राजनीति का पर्याय बन जाती है। यह कहा जा सकता है कि बाज़ार का प्रभुत्व आज की वास्तविकता है और कोई शिक्षा वास्तविकता से मुँह मोड़ कर प्रासंगिक और सार्थक नहीं बनी रह सकती। यह शिक्षा का दायित्व क्यों नहीं है कि वह शिक्षार्थी को हक़ीक़त से रूबरू होना सिखाए?

लेकिन तब हमें रूबरू होने के तात्पर्य पर विचार करना होगा। क्या रूबरू होने का मतलब घुटने टेक देना या अपने वैशिष्ट्य यानी अपनी पहचान को, अपने आत्म-सम्मान को नष्ट कर देना है? क्या रूबरू होने का वास्तविक तात्पर्य अपने अस्तित्व, अपनी स्वतन्त्रता, अपनी अद्वितीयता का समर्पण है? जब हम किसी व्यक्ति की अन्तर्निहित सम्भावनाओं को उसे बाज़ार के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में नष्ट कर रहे होते हैं तो क्या उसे वास्तविक अर्थों में शिक्षा कहा जा सकता है? शायद ही कोई वास्तविक शिक्षाशास्त्री बाज़ार के प्रति अनुकूलन की इस प्रक्रिया को शिक्षा कहने वालों की सूची में अपना नाम दर्ज करवाना चाहेगा। लेकिन दूसरी ओर, यदि शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का नियमन और संचालन राज्य के नियन्त्रण में रहेगा तो इस प्रक्रिया से बचाव तब तक सम्भव नहीं दीखता जब तक राज्य अपने को बाज़ार का एजेन्ट बनाने से इन्कार न कर दे। ऐसा होना, कम से कम अभी तो, सम्भव नहीं दीखता।

दूसरा रास्ता शिक्षा को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त करना हो सकता है। लेकिन तब उस के वित्तीय संसाधनों की उपलब्धि कैसे हो? कहा जा सकता है कि उस के नियमन और वित्तीय प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी राज्य के बजाय समाज के हाथों में हो। लेकिन समाज एक अमूर्त अवधारणा हो गयी है और ख़ासतौर पर वित्तीय संसाधन जुटाने के मामले में तो उन सम्पन्न व्यावसायिक घरानों पर ही निर्भर होना पड़ेगा जो स्वयं बाज़ार का नेतृत्व कर रहे और राज्य पर शिक्षा को बाज़ार के अनुकूल बनाने का दबाव डालते रहे हैं। ऐसा होने की स्थिति में तो वह शर्म भी नहीं बची रहेगी जो कभी-कभी राज्य की आँखों में झलक जाती है—चाहे उस का प्रयोजन मतदाता को भुलावे में डालना ही क्यों न हो।

यह आश्चर्यजनक पर विडम्बनापूर्ण है कि लगभग सभी शिक्षा-सम्मेलनों और संगोष्ठियों में बाज़ार, वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों और उन के परिणामों की घोर आलोचना के बावजूद शिक्षाशास्त्रियों की तरफ़ से राज्य पर ऐसा कोई दबाव नहीं डाला जा रहा है कि वह अपनी नीतियों पर शिक्षा के सन्दर्भ में पुनर्विचार करे—बल्कि शिक्षाशास्त्रियों पर ही बाज़ार के सन्दर्भ में शिक्षा में बदलाव के लिए दबाव डाला और उसे मनवाया जाता रहा है। क्या ऐसा सम्भव नहीं है कि यदि राज्य शिक्षाशास्त्रियों के मन्तव्य पर विचार नहीं करता है तो उन्हें स्वयं को राज्य से अलग करते हुए ऐसे स्वायत्त संस्थानों का विकास और मदद करनी चाहिए जो इस जाल से निकलने के लिए वैकल्पिक प्रयत्न कर रहे हैं।

देश में, छोटे ही सही, ऐसे कई स्वायत्त संस्थान हैं जो इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। ऐसे सभी संस्थानों के लिए एक विनम्र सुझाव है। शिक्षा में, सामान्यतः अनुशासन का बहुत महत्त्व माना जाता है। लेकिन मुझे लगता है कि आज के सन्दर्भ में शिक्षा का प्रमुख कर्तव्य विद्रोही बनाना है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह अपनी अद्वितीयता की अभिव्यक्ति कर सके, उसे सिद्ध कर सके। लेकिन यदि कोई व्यवस्था बाज़ार या किसी राजनीति की आवश्यकता के कारण उसे वह होने से रोकती है जो वह है, तो उस के अन्दर ऐसी व्यवस्था के प्रतिरोध का सामर्थ्य विकसित करना शिक्षा का ही दायित्व है। बहुत-से शिक्षा संस्थान अलग तरह की शिक्षा की बात तो करते हैं, लेकिन अपने शिक्षार्थी को प्रतिरोध के लिए प्रेरित और उस के लिए सामर्थ्य जुटाने के लिए शिक्षित नहीं करते। कहा जा सकता है कि यह तो राजनीतिक संगठनों का काम है। लेकिन जब राजनीतिक संगठन स्वयं बाज़ार के एजेन्ट बन गए हों तो यह दायित्व सीधे शिक्षा पर आ जाता है। शिक्षा की सार्थकता विद्रोही पैदा करने में भी हो सकती है—अहिंसक विद्रोही बनाने यानी शिक्षार्थी को प्रतिरोध के अहिंसक तरीक़ों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रशिक्षित करने में। महात्मा गाँधी की नयी तालीम, दरअस्ल, इसी दिशा में एक प्रयास था। उस का प्रयोजन केवल कुछ दस्तकारियों आदि का प्रशिक्षण देना या किसी व्यवसाय के योग्य बनाना मात्र नहीं था। यदि नयी तालीम सत्य की शिक्षा है तो असत्य के ख़िलाफ़ सत्याग्रह भी उस का एक अनिवार्य दायित्व है। नयी तालीम की योजना के ठुकरा दिये जाने का असल कारण भी शायद यही था कि लम्बे समय तक चलने पर वह ऐसा समाज तैयार कर सकती थी जो राज्य और बाज़ार का मुखापेक्षी नहीं होता और इस लिए ज़रूरत पड़ने पर असत्य यानी अपने प्रति हिंसक बाज़ार और राज्य का अहिंसक प्रतिरोध कर सकता। क्या अपने को राज्य से स्वतन्त्र मानने वाले शिक्षा संस्थान शिक्षार्थी में अपनी स्वतन्त्रता को बचाने और अपने पर हो रहे अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा बन सकेंगे? यह नहीं भूलना चाहिए कि दुनिया में बहुत-सी क्रान्तियों के बीज शिक्षा संस्थानों में ही बोये गये हैं। शिक्षा का प्रयोजन आत्मसृजन है। लेकिन जिस व्यवस्था में आत्म का ही लोप हो रहा हो, उस के ख़िलाफ़ सत्याग्रह फ़िलहाल शिक्षा-जगत्—बल्कि पूरे संस्कृति-जगत्—की पहली प्रासंगिकता है। उस के बिना स्वयं शिक्षा और संस्कृति की ही कोई प्रासंगिकता नहीं रह जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सत्याग्रही विकास की ज़रूरत

वैकल्पिक विकास या विकास की वैकल्पिक अवधारणा की तलाश की किसी भी प्रक्रिया में विकास की वर्तमान अवधारणा और प्रक्रिया की विफलता की स्वीकृति स्वयमेव अन्तर्निहित है। इस लिए विकल्प के किसी भी विमर्श से पूर्व यह समझना आवश्यक है कि वर्तमान या प्रचलित अवधारणा की मूल ख़ामी क्या है। यदि वर्तमान अवधारणा में कोई मूलगत ख़ामी नहीं है तब तो हमें किसी विकल्प की तलाश करने के बजाय प्रचलित प्रक्रिया में कुछ आवश्यक सुधार की ही ज़रूरत है, विकल्प की नहीं। विकास पर हुए विमर्श में समय-समय पर जो संशोधन किए जाते रहे हैं—*जीडीपी* से लेकर *जीएनडब्ल्यू* और टिकाऊ विकास तक—वे सभी यह मान कर चलते हैं कि वर्तमान विकास-प्रक्रिया में थोड़े-बहुत संशोधन से ही काम चल सकता है और उसी को विकल्प की तरह प्रस्तुत किया जाता रहा है।

विकास का कोई भी विमर्श एक दुश्चक्र में फँस जाने के लिए अभिशप्त है—यदि वह इस बात पर पहले विचार नहीं कर लेता कि विकास का अर्थ मनुष्य का विकास है या वस्तुओं का विकास। हमें इस बात को सदैव स्मरण रखना होगा कि मनुष्य स्वयं जीवन की विकास-प्रक्रिया का एक परिणाम है और यह मानने का कोई कारण नहीं है कि मनुष्य की वर्तमान स्थिति जीवन की विकास-प्रक्रिया का अन्तिम सोपान है। जीवन के मनुष्य रूप में विकसित होने का अर्थ जीवन का चेतना में रूपान्तरण है। अतः जीवन के भावी विकास का आयाम चेतना का विकास है। इस लिए जब हम आर्थिक सन्दर्भ में विकास की बात करते हैं, तब यह देखना ज़रूरी होगा कि मनुष्य की चेतना के विकास की दिशा क्या है और उस के समग्र संश्लिष्ट विकास पर इस आर्थिक विकास का प्रभाव कैसा होता है। जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, अतः उस के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आर्थिक पक्ष का असर शेष पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही है। इस लिए किसी भी आर्थिक प्रक्रिया के लिए यह देखते रहना आवश्यक होना चाहिए कि वह जीवन के विकास की इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में कोई सर्जनात्मक योगदान कर रही है या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं कि आर्थिक विकास जीवन के विकास की विपरीत दिशा की ओर उन्मुख हो। ऐसा विकास अवैज्ञानिक या पश्चगामी विकास होगा क्यों कि वह मनुष्य के विकास की प्रक्रिया को पीछे धकेलने के लिए सचेष्ट हो रहा होगा।

यदि अहिंसा जीवन की प्रेरणा, नियम और लक्ष्य है—और इन तीनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता—तो मानवीय चेतना के विकास का एक निहितार्थ मनुष्य और उस की सभी क्रियाशीलताओं—संस्थाओं में अहिंसा का निरन्तर विकास होगा और तब यह देखना होगा कि सभी मानवीय कार्य-व्यापार और संस्थाओं में हर स्तर पर अहिंसा का प्रतिफलन और प्रतिबिम्बन होता है या नहीं। इस दृष्टि से आर्थिक जीवन और प्रक्रिया को—इस लिए विकास को भी—अहिंसा की परिधि के भीतर और उस की कसौटी पर ही समझा जाना चाहिए। आधुनिक अर्थशास्त्र के पिता कहे जाने वाले एडम स्मिथ को भी अन्ततः *मोरल सेण्टीमेण्ट्स* में उठाये गये सवालों को दरकिनार कर *वेल्थ ऑफ नेशंस* में यह मानना पड़ा था कि मनुष्य का आर्थिक जीवन और विकास उस की बुनियादी स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित और नियमित-निर्देशित है, इस लिए नैतिकता से उस का अनिवार्यतः विरोध का ही सम्बन्ध हो सकता है—जब कि अहिंसा तो समस्त नैतिकता का स्रोत है। नरहरि पारीख ने इसी लिए आधुनिक अर्थशास्त्र के विकास को यूरोप द्वारा दुनिया की लूट के औचित्य को प्रतिपादित करने वाला शास्त्र कहा है। उन्हीं के शब्दों में, *भयंकर अत्याचार, अन्याय और शोषण के साथ वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्म और विकास का गहरा सम्बन्ध है।*

विकास की प्रचलित अवधारणा की मूल ख़ामी यह है कि वह मनुष्य को केवल एक ऐन्द्रिक अस्तित्व और इस नाते उपभोक्ता मात्र मानता है और इस उपभोग के लिए उसे उत्पादन करना और क्रयशक्ति को अर्जित करना पड़ता है। इस अवधारणा का एक अनिवार्य परिणाम यह होता है कि *आर्थिक विकास* मनुष्य के उपभोग को निरन्तर बढ़ाते रहने पर आश्रित हो जाता है। इस लिए वह उपभोग में वृद्धि को एक जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। उत्पादन केवल ज़रूरत की पूर्ति के लिए नहीं होता, बल्कि नई ज़रूरतों, नई माँगों की सृष्टि भी करनी पड़ती है, क्यों कि मनुष्य के विकास का तात्पर्य उस की चेतना का नहीं, उस के ऐन्द्रिक उपभोग का विकास हो जाता है। मनुष्य को उपभोक्ता मान लेने और उस के उपभोग को बढ़ाते रह कर अपना विकास करती रहने वाली अर्थव्यवस्था ने बहुत-सी सामाजिक-राजनीतिक हिंसा तो की ही, साथ ही, प्रकृति के प्रति भी उस का रुख़ अत्यन्त हिंसक रहा है। यहाँ हमें यह बुनियादी बात नहीं भूलनी चाहिए कि जब हम किसी अन्य के प्रति हिंसा करते हैं—मनुष्य अथवा मनुष्येतर के प्रति—तो उसे नुक़सान पहुँचाने से पहले स्वयं को हिंसक बना रहे होते अर्थात् अपने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मनुष्यत्व के विकास को कुण्ठित करते हुए जीवन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में अपने को प्रतिक्रियावादी और अवैज्ञानिक सिद्ध कर रहे होते हैं।

लेकिन, इन सब के बावजूद, आधुनिक कहा जाने वाला विकास न केवल बुनियादी आर्थिक सवालों का समाधान करने में विफल रहा है, बल्कि बहुत-सी नयी समस्याएँ—जैसे पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थितिकीय असन्तुलन—तो, जैसा कि प्रो. बैरी कॉमनर ने बताया है, *प्रासंगिक विफलताओं के नहीं, बल्कि प्रौद्योगिकीय सफलताओं के परिणाम हैं।* ये सफलताएँ भी हमें ये सवाल पूछने से नहीं रोक सकतीं : क्या यह अर्थव्यवस्था हमारी ज़रूरतों को कृत्रिम रूप से बढ़ाते रहे बिना जीवित रह सकती है? क्या इन ज़रूरतों की निरन्तर वृद्धि और उन की पूर्ति हमारे हिंसक हुए बिना सम्भव है—अपने-आप के प्रति हिंसक और अपने मानवीय और प्राकृतिक परिवेश के प्रति हिंसक?

महात्मा गाँधी अहिंसा को *ईश्वरीय नियम* कहते हैं, अर्थात् अस्तित्व का, जीवन का नियम। उन के लिए मनुष्य होने का तात्पर्य नैतिक होना है—जीवन के विकास की अहिंसक दिशा का यात्री होना। इस लिए स्वाभाविक ही है कि वह उपभोग में भी मनुष्य से नैतिक मूल्यों के निर्वाह की अपेक्षा करते हैं। जब वह शोषित श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं की खरीद और इस्तेमाल को *पाप* की संज्ञा देते हैं तो वह प्रकारान्तर से उपभोक्ता को भी *सत्याग्रही* बनने का आमन्त्रण देते हैं। जब वह उपभोक्ता को अपरिग्रह का परामर्श देते हैं तब न केवल उसे *ऐन्द्रिक अस्तित्व* मानने को ख़ारिज करते हैं, बल्कि अनावश्यक उत्पादन और उपभोग के कारण प्रकृति की हिंसक बर्बादी को रोकने का उपाय कर रहे होते हैं। उन के लिए सभ्यता आवश्यकताओं के बहुलीकरण में नहीं, बल्कि उन में स्वैच्छिक कमी करने में है। यह ग़रीबी को नहीं, स्वेच्छापूर्ण त्याग को चुनना है।

स्पष्ट है कि गाँधीजी के लिए विकास का तात्पर्य उत्पादन और प्रकारान्तर से उपभोग में वृद्धि नहीं हो सकता। एक अहिंसक आर्थिक विकास ही उन का लक्ष्य हो सकता है—जिस का अर्थ है उत्पादन के साधनों-प्रक्रियाओं के अहिंसक होने के साथ-साथ लाभ के वितरण और स्वामित्व का भी अहिंसक होना, क्यों कि ऐसा विकास ही जीवन के, चेतना के अहिंसक विकास की प्रक्रिया का माध्यम हो सकता है। विकास की वर्तमान प्रक्रिया, यदि वह सफल भी होनी है, तो हमें अधिक-से-अधिक, हर्बर्ट मारक्यूज के शब्दों में कहें तो, *समृद्धि के नर्क* में ही ढकेल सकती है, जिस में हम एकायामी—यानी केवल ऐन्द्रिक अस्तित्व—हो कर रह जाते हैं, क्यों कि उस में हमारी चेतना के क्रान्तिकारी आयाम न जाने कहाँ बिला जाते हैं।

इस लिए गाँधीजी का प्रस्ताव एक ऐसे विकास का है जिस में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया केवल आर्थिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि जीवन के भावी विकास की प्रक्रिया का एक आवयविक हिस्सा बन जाए। अहिंसा या प्रेम का नियम ही गाँधीजी के अर्थशास्त्र की मूल प्रेरणा है। ठोस आर्थिक आवश्यकताओं की कहीं भी अनदेखी न करते हुए भी महात्मा गाँधी का अर्थशास्त्रीय चिन्तन सत्य और अहिंसा की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मूल प्रेरणाओं को सदैव केन्द्र में रखता है। उत्पादन पद्धति के रूप में स्वदेशी और स्वामित्व के रूप में ट्रस्टीशिप की अवधारणाएँ अहिंसक—बल्कि सत्याग्रही—आर्थिक विकास की प्रक्रिया के आधारभूत संस्थान हैं। ट्रस्टीशिप को एक यूटोपिया मानने वालों को यह स्मरण दिलाना अनुचित नहीं होगा कि कोई भी लोकतान्त्रिक राज्य अन्ततः एक राजनीतिक ट्रस्टीशिप ही है। यदि ट्रस्टीशिप राजनीतिक क्षेत्र में—कई-सारे सुधारों की सम्भावना और ज़रूरत के बावजूद—सर्वाधिक उपयुक्त व्यवस्था है, तो आर्थिक क्षेत्र में उस की व्यावहारिकता पर राजनीतिक क्षेत्र से अधिक सन्देह नहीं किया जा सकता।

इस लिए मुख्य बात यह है कि हम विकास को केवल आर्थिक सन्दर्भ की परिधि में ही रख कर देखते हैं या उसे वृहत्तर और समग्र जीवन-विकास की संश्लिष्ट प्रक्रिया का एक अंग बनाना चाहते हैं। यदि मनुष्य जीवन-विकास का एक स्तर है और हम मानते हैं कि विकास की यह प्रक्रिया गतिमान है—जैसा कि श्रीअरविन्द और विनोबा जैसे विचारक सिद्ध करते हैं—तो हमें आर्थिक विकास के क्षेत्र में भी ऐसी प्रक्रिया की ज़रूरत होगी जो जीवन के भावी विकास की दिशा में हमारी सहयोगी हो। इसे ही विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया कहा जा सकता है।

स्थूल अथवा सूक्ष्म, किसी भी प्रकार की हिंसा के सहारे चलने वाला विकास जीवन-विरोधी ही हो सकता है। ऐसा विकास गाँधीजी की शब्दावली में असत्य का वाहक ही होगा। अहिंसा सत्य का व्यावहारिक रूप है। क्या हम एक सत्याग्रही विकास की कल्पना नहीं कर सकते हैं? सत्याग्रह के आविष्कार की शताब्दी के अवसर पर उस के आर्थिक आयाम के उद्घाटन से अधिक प्रासंगिक और क्या हो सकता है!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विकास की वैकल्पिक अवधारणा

भारत की अर्थव्यवस्था की दुर्गति का एक महत्त्वपूर्ण बल्कि शायद सर्वाधिक प्रमुख कारण हमारी अर्थनीति के संचालकों और उन के सलाहकारों की घोर अमौलिकता और उन में प्रयोगशीलता के लिए आवश्यक साहसिकता का अभाव है। इस का कारण यह है कि उन की शिक्षा और बौद्धिक वातावरण ने चिन्तन की प्रक्रिया और उस की प्रामाणिकता की कसौटी के रूप में जिन अवधारणाओं को उन का संस्कार बना दिया है, उस से उन का मुक्त हो सकना लगभग असम्भव-सा हो गया है। सीधे शब्दों में कहें तो इस का मुख्य कारण वह विश्वविद्यालयी शिक्षा है जो कुछ पूँजीवादी अवधारणाओं को उन पर इस तरह आरोपित कर देती है कि किसी भी प्रकार के विकल्प की खोज के लिए उन में कोई इच्छा ही नहीं बचती और उन्हें लगता है कि पिटे-पिटाये रास्तों के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं है।

दुनिया में विकल्पों की खोज करने वाले लोग भी हैं, उन के बताये विकल्पों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए, यह बात ही उन्हें अव्यावहारिक और स्पष्ट शब्दों में कहें तो *अहमकाना* लगती है। ऐसा लगता है कि ये लोग एक क़िस्म के *ऐतिहासिक नियतिवाद* के शिकार हैं जिस में मानवीय स्वतन्त्रता और पहल की कोई प्रासंगिकता नहीं है—यद्यपि यह *ऐतिहासिक नियतिवाद* अपने मार्क्सवादी संस्करण से बिल्कुल उलट है क्यों कि इस में विचार के स्तर पर भी समता या शोषण-मुक्ति की कोई सम्भावना दूर-दूर तक नहीं दिखायी देती। इस लिए यह दुखद होते हुए भी आश्चर्यजनक नहीं लगता कि इन अवधारणाओं की शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों से निकले अर्थशास्त्र के अधिस्नातकों के बहुलांश को ऐसे अर्थशास्त्रियों या अवधारणाओं की न्यूनतम जानकारी भी नहीं होती जिन्होंने कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विकल्प प्रस्तावित किये हैं। कितने विश्वविद्यालय ऐसे होंगे जो अपने पाठ्यक्रमों में अर्थशास्त्र की चालू पद्धति से असहमत होने और विकल्प प्रस्तावित करने वाले गाँधी, कुमारप्पा, शुमाकर, लीविस ममफोर्ड, लोहिया आदि ही नहीं, पॉल बरन, आन्द्रे गुण्डर फ्रेंक और डडले सीयर्स जैसे अर्थशास्त्रियों के चिन्तन तो क्या नाम तक से अपने विद्यार्थियों को परिचित करवाते हैं? इस का एक परिणाम यह होता है कि हमारा नीति-निर्माता वर्ग और उन्हें चुनने वाला समाज, दोनों ही यह मानने लग जाते हैं कि आर्थिक उन्नति का एक ही रास्ता है, जिस पर चलने के सिवा कोई और विकल्प हमें उपलब्ध ही नहीं है। दूसरे शब्दों में, इस का नतीजा यह होता है कि सामान्य जनता के मन में भी विकल्प तलाश करने की आकांक्षा क्षीण होती जाती है और तब वह कोई वास्तविक विकल्प चुनने के बजाय सत्तारूढ़ और प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों की अदला-बदली को ही परिवर्तन मान कर सन्तुष्ट होती रहती है—बिना यह जाने कि एक-सी आर्थिक प्रक्रिया को मानने वाले दो दलों में से किसी एक का चुनाव कोई वास्तविक चुनाव नहीं है।

पूँजीवादी यदि बहुदलीय या द्विदलीय संसदीय प्रणाली को समर्थन देता है तो इसी लिए कि इस तरह वह एक लोकतान्त्रिक मुखौटे में अपनी आर्थिक तानाशाही चलाता रह सकता है। फुकुयामा जैसे विचारक यदि उदारवादी संसदीय लोकतन्त्र की पूँजीवादी व्यवस्था में *इतिहास का अन्त* प्रस्तावित करते हैं तो इस के पीछे उन का मुख्य तर्क है कि इस व्यवस्था के विकल्प की आवश्यकता ही अब अनुभव नहीं होती—और ऐसा अनुभव न होने का मुख्य कारण यही है कि हमारे बौद्धिक संस्थानों और मीडिया द्वारा एक ऐसा वातावरण बना दिया गया है जिस में किसी विकल्प की सम्भावना तक को अव्यावहारिक और *अहमकाना* मान लिया जाता है। जो एकमात्र रास्ता बताया गया है उसी में यत्र-तत्र कुछ संशोधन-परिवर्तन करने से काम चलते रहने की उम्मीद जगाये रखी जाती है। हमारे आर्थिक जीवन—और प्रकारान्तर से राजनीतिक-सामाजिक जीवन को भी—प्रभावित करने वाली मुख्य अर्थशास्त्रीय अवधारणा *विकास* है। हमारे देश में विकास का सीधा-सादा मतलब पूँजी निवेश और उत्पादन में वृद्धि है। यह समझा जाता है कि इस से आय में भी वृद्धि होगी और आय में यह वृद्धि अठारहवीं शताब्दी में एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तावित *अदृश्य हाथ* द्वारा समाज के निम्नतम स्तर तक स्वयमेव रिस-रिस कर पहुँच जायेगी। यही कारण है कि आज भी हम सकल राष्ट्रीय उत्पाद और सकल राष्ट्रीय आय में वृद्धि को ही विकास मानते हैं और आँकड़ों की प्रस्तुति द्वारा बार-बार यह सिद्ध करने का प्रयास करते रहते हैं कि विकास हो रहा है।

लेकिन अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो सकल राष्ट्रीय उत्पाद और सकल राष्ट्रीय आय में वृद्धि को विकास की एकमात्र कसौटी नहीं मानता। यह दुखद है कि हमारे अधिकांश बौद्धिक संस्थान उन की आलोचना की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते और विकास की अवधारणा की अपनी व्याख्या में उन के विचारों को शामिल नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करते। डडले सीयर्स ने विकास की कसौटी जीएनपी और जीडीपी में वृद्धि को मानने के बजाय यह मानी है कि ग़रीबी, बेरोज़गारी और असमानता किस हद तक दूर हुई है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद या आय में वृद्धि के आँकड़े भ्रामक हो सकते हैं क्यों कि यदि दस व्यक्तियों के समूह में एक व्यक्ति की आय सौ रुपए प्रतिदिन और बाक़ी की एक रुपया या दो रुपया प्रतिदिन हो तो सकल आय का औसत तो नौ व्यक्तियों की आय से बहुत अधिक होगा, लेकिन इस से नौ व्यक्तियों की आय सन्तोषजनक नहीं होगी और यदि उन में से कुछ व्यक्ति बेरोज़गार हैं तो सकल आय का औसत उन के लिए अप्रासंगिक होगा। इसी लिए डडले सीयर्स ने कहा था कि सकल राष्ट्रीय आय के दुगुना हो जाने पर भी ग़रीबी, बेरोज़गारी और असमानता बनी रह सकती है और तब इसे विकास कहना सही नहीं होगा। सीयर्स जो बात अर्थशास्त्र की शब्दावली में कहना चाह रहे हैं, वह गाँधी ने अपने तरीक़े से बहुत पहले कह दी थी कि आख़िरी आदमी ही हमारे किसी भी कार्यक्रम की कसौटी हो सकता है।

इस दृष्टि से देखा जाये तो राष्ट्रीय उत्पाद और आय में निरन्तर वृद्धि के बावजूद शायद ही किसी देश को *विकसित* कहा जा सकता है क्यों कि विकसित माने जाने वाले देशों में भी ग़रीबी और बेरोज़गारी तो मौजूद है ही, असमानता भी लगातार बढ़ती गयी है। यदि हम पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को एक मान लें, जिस का पुरज़ोर आग्रह हम से किया जा रहा है, तो भिन्न-भिन्न देशों के बीच जो असमानता है और पूरी दुनिया में जो ग़रीबी और बेरोज़गारी है, वह यही बताती है कि वास्तविक विकास अभी बहुत दूर है। कहा जा सकता है कि आर्थिक भूमण्डलीकरण का असल तात्पर्य ही यही है कि ग़रीब और अविकसित देशों को भी विकास की प्रक्रिया में शामिल कर के उन की ग़रीबी और बेरोज़गारी को मिटाया जाय। लेकिन यह कहते हुए डॉ. लोहिया द्वारा संकेतित इस बात को भुला दिया जाता है कि विकसित माने जाने वाले देशों की सम्पन्नता बहुत हद तक उन के द्वारा एशिया-अफ्रीका और लातिन अमेरिका के देशों के आर्थिक शोषण की वजह से है। यहाँ पॉल बरन और आन्द्रे गुण्डर फ्रेंक जैसे लोगों का यह निष्कर्ष भी उल्लेखनीय है कि पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया के प्रसार में अन्य देशों या वर्गों के विकास का अवरुद्ध हो जाना हमेशा सम्भव रहता है और उच्च स्तर वाले बीस प्रतिशत और निम्न वर्ग वाले चालीस प्रतिशत लोगों के बीच असमानता निरन्तर बढ़ती जाती है। आन्द्रे गुण्डर फ्रेंक ने तो अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवादी विकास से जुड़े कुछ सांस्कृतिक दुष्परिणामों और बौद्धिक उपनिवेशवाद और अपने समाज की दृष्टि से अप्रासंगिक बल्कि संवेदनहीन शिक्षा-व्यवस्था का भी उल्लेख किया है, जिन पर अलग से विचार की ज़रूरत है। विकास की प्रचलित अवधारणा से हमारे शिक्षित वर्ग का अभिभूत होना एक प्रकार से बौद्धिक उपनिवेशवाद और संवेदनहीन शिक्षा का प्रमाण ही माना जा सकता है।

डॉ. मनमोहन सिंह अन्तरराष्ट्रीय स्तर के एक प्रख्यात अर्थशास्त्री हैं, इस लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इस देश के साधारण जन का उन से यह अपेक्षा करना स्वाभाविक ही है कि वह इस देश को उस वास्तविक विकास की मंज़िल की ओर ले जायेंगे जिस की बात महात्मा गाँधी और डडले सीयर्स ने की है। लेकिन ऐसा लगता नहीं कि अपनी सारी सदाशयता के बावजूद मनमोहन सिंह ऐसा कर सकेंगे। इस का स्पष्ट कारण यही है कि मनमोहन सिंह भी अन्ततः उन्हीं बौद्धिक संस्थानों के उत्पाद हैं जिन का प्रयोजन विकास की पूँजीवादी अवधारणा को उस की एकमात्र अवधारणा के रूप में प्रचारित करना और स्वीकृत करवाना रहा है। यह नहीं भूला जा सकता कि लम्बे अरसे से मनमोहन सिंह हमारी अर्थनीति के प्रस्तावकों में रहे हैं और इस दीर्घ जीवन में उन्हें भारत की विशेष परिस्थिति के अनुकूल किसी वैकल्पिक मॉडल की प्रस्तावना का श्रेय नहीं दिया जा सकता। जब *मानवीय चेहरे के साथ सुधार* की बात की जाती है तो इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि ये सुधार अपने-आप में मानवीय नहीं हैं। यदि ये अपने-आप में मानवीय नहीं हैं तो फिर इन की ज़रूरत ही क्या है? क्या हमारे अर्थशास्त्री और नीति-निर्माता इतने अनुकरणधर्मी और अमौलिक हैं कि वे किसी ऐसे विकल्प का विकास नहीं कर सकते जो अपने-आप में मानवीय हो और जिसे मानवीय चेहरे में दिखाने का कोई कृत्रिम प्रयास उन्हें नहीं करना पड़े?

यह उल्लेखनीय है कि मनमोहन सिंह के वित्तमन्त्री-काल में भारत गैट में सम्मिलित हुआ। इस का एकमात्र कारण विकास की उस अवधारणा को स्वीकार करना था, जिस का समर्थन अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवाद और उस से प्रेरित गैट-प्रस्ताव कर रहे थे। यदि विकास की उसी अवधारणा और उस से जुड़ी प्रक्रिया में ही हम चलते रहते हैं तो सारे मानवीय चेहरे के बावजूद उस के परिणाम मानव-विरोधी ही होंगे। विकास की प्रचलित अवधारणा की आलोचना करते हुए महबूब उल हक्क जैसे अर्थशास्त्री ने कभी कहा था कि विकास जनता के लिए है, न कि जनता विकास के लिए और इस लिए वह बाज़ार की ज़रूरत से नहीं, मानवीय ज़रूरतों से निर्देशित होना चाहिए। महबूब उल हक्क के अनुसार वह तभी सम्भव है जब ग़रीबी पर सीधा प्रहार हो। बाज़ार का माध्यम होना तो बाज़ार को बढ़ायेगा और उस हद तक ग़रीबी और असमानता को भी। क्या हमारे पास विकास की कोई मौलिक और वैकल्पिक कल्पना है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

विकेन्द्रीकरण का नया मिथ

कम्प्यूटर क्रान्ति के विस्फोट के बाद विकेन्द्रीकरण को लेकर एक मिथ व्यापक स्तर पर प्रचलित हो रहा है कि अब केन्द्रीकृत उत्पादन की आवश्यकता नहीं रह गई है। आधुनिक तकनीक के समर्थक यह कहते भी सुने जा सकते हैं कि ऊर्जा की समस्या के हल हो जाने के बाद—जिसकी सम्भावना वे सौर ऊर्जा में देखते हैं—पर्यावरण प्रदूषण की समस्या तो हल होगी ही, साथ ही ऊर्जा उत्पादन का विकेन्द्रीकरण भी सम्भव हो जाएगा। ऐसा होने पर केन्द्रीकरण से पैदा होने वाली आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं और उन के सामाजिक-सांस्कृतिक परिणामों से बचा जा सकेगा। इस लिए आधुनिक तकनीकी के विकास और सफल प्रयोग में ही हमारी समस्याओं का समाधान निहित है।

क्या सचमुच ऐसा है? लेकिन क्या अभी तक आधुनिक उत्पादन की पद्धति सफल नहीं होती रही है? यह माना जाता रहा है कि उत्पादन की समस्या के हल के लिए ही आधुनिक तकनीकी का आविष्कार हुआ है और उस के विकास के साथ-साथ उत्पादन की मात्रा और गुणवत्ता, दोनों में लगातार बढ़ोतरी होती रही है। उत्पादन में बढ़ोतरी को ही तकनीकी की सफलता की कसौटी माना जा सकता है और इस दृष्टि से यह कहना तार्किक विसंगति होगी कि उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ आर्थिक समस्याएँ कम होने की बजाय न केवल अधिक बढ़ी हैं, बल्कि उन के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आयाम भी अधिक विकराल होते गये हैं।

इतिहास में पहले भी विश्वविजय का प्रयास करने वाले व्यक्तित्व और प्रवृत्तियाँ रही हैं, लेकिन उन के विजय-अभियानों में हिंसा, नरसंहार, शोषण और उत्पीड़न का जो ताण्डव आधुनिक उत्पादन तकनीकी के विकास के साथ प्रकट हुआ है, उस की कल्पना भी इतिहास के उस दौर में नहीं की जा सकती थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आर्थिक-सामाजिक असुरक्षा का जो बोध और तनाव और उस के कारण सफलतम माने जा सकने वाले वर्गों और व्यक्तियों में भी मनोव्याधियों का जो विस्तार दिखायी दे रहा है, वह यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इस उत्पादन-पद्धति ने न केवल आर्थिक-राजनीतिक स्तर पर, बल्कि सामाजिक स्तर पर भी नयी समस्याएँ पैदा की हैं। हम अकसर यह मान लेते हैं कि समस्या केवल उत्पादन और उस के लिए निवेश की है और उस के मानवीय परिणामों की ओर से आँखें मूँद लेते हैं—जान-बूझ कर यह भूल जाते हुए कि मनोव्याधियाँ व्यक्तिगत विफलताओं से ही नहीं पैदा होतीं—बहुत हद तक वे आर्थिक प्रक्रिया से प्रसूत सामाजिक संरचनाओं का परिणाम भी होती हैं—और आर्थिक प्रभाव तो सीधे उत्पादन-प्रक्रिया से पैदा होते ही हैं।

कुछ लोग उत्पादन-प्रक्रिया और लाभ के वितरण की समस्या को अलग-अलग कर के देखते हैं, लेकिन वे यह भूल रहे होते हैं कि लाभ पर सामाजिक अधिकार तभी सम्भव है, जब उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो और पूँजी और उस से प्रसूत सत्ता के केन्द्रीकरण और निरंकुशता का वास्तविक समाधान तभी सम्भव है, जब उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण सीधे उत्पादक श्रम के हाथों में हो, यानी वास्तविक अर्थों में एक विकेन्द्रित तकनीकी ही असली लोकतन्त्र अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता का वैसा अधिष्ठान बनाने में कामयाब हो सकती है जिसे महात्मा गाँधी *स्वराज* कहते हैं। यहाँ बेरी कॉमनर का यह कथन भी स्मरण हो आता है कि हमारी अधिकतर समस्याएँ तो आधुनिक तकनीकी की विफलता नहीं, बल्कि उस की सफलता के परिणाम हैं। बेरी कॉमनर का सन्दर्भ बिन्दु आर्थिक और पर्यावरणीय समस्याओं से जुड़ा है, लेकिन इस बात का विस्तार सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन तक हो जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक भूमण्डलीकरण और उस से प्रसूत नव-उपनिवेशवाद का विकास उसी कम्प्यूटर क्रान्ति का सहजात है, जिस में हमारे कई अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री विकेन्द्रीकरण की सम्भावना देखते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि विकेन्द्रीकरण और संयमित उपभोग एक-दूसरे से अभिन्न हैं। यदि कथित विकेन्द्रीकरण का लक्ष्य भी उपभोग में वृद्धि ही होगा तो उस के सामाजिक परिणाम भी लगभग वही होंगे जो अभी दिखायी दे रहे हैं। दरअस्ल, उपभोग के स्तर और परिमाण को विकेन्द्रीकृत तकनीकी के आधार पर बढ़ाया ही नहीं जा सकता। यदि हम अधिकांशतः स्थानीय संसाधनों के आधार पर उपभोग की अपनी मात्रा को सुनिश्चित नहीं करते और उसे निरन्तर बढ़ाते जाते हैं तो उस की आपूर्ति के लिए बड़ी मशीनों से होने वाला उत्पादन, माल को ढोने के लिए बड़ी क्षमता वाले यातायात के साधन और उस की व्यवस्था के लिए केन्द्रीकृत प्रबन्धन और उस के कुशलतापूर्वक संचालन के लिए फिर केन्द्रीकृत तकनीकी और उस के केन्द्रीकृत स्वामित्व की ज़रूरत पेश आयेगी ही। साथ ही, यदि हमारा ध्यान केवल उत्पादन वृद्धि पर लगा रहता है—एक अमूर्त उपभोक्ता के लिए उत्पादन वृद्धि की ओर—तो उस का भी आवश्यक परिणाम असंयमित उपभोग ही हो सकता है। दरअस्ल, यह एक दूषित चक्र है जिसे कभी उत्पादन वृद्धि, तो कभी उपभोग वृद्धि गतिशील बनाये रखती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

इस लिए उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि उस का प्राथमिक लक्ष्य उपभोग को बढ़ाना नहीं, बल्कि सामान्य मनुष्य की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करना होना चाहिए। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कम्प्यूटर क्रान्ति से सम्भावित विकेन्द्रीकरण अनिवार्यतः उत्पादन का विकेन्द्रीकरण नहीं है। वह प्रबन्धन और उत्पादन को भिन्न स्थानों पर रखते हुए भी जोड़े तो रख सकता है, लेकिन बड़ी मात्रा के उत्पादन की अनिवार्यता को समाप्त नहीं करता, न उपभोग की मात्रा पर ही नियन्त्रण रख सकता है। कम्प्यूटर अनाज, कपड़ा, लोहा और सीमेण्ट आदि या उन से बनने वाली उपभोग-सामग्री का उत्पादन नहीं कर सकते। वे अधिक से अधिक उस के प्रबन्धन और विपणन में मददगार हो सकते हैं। इस से प्राकृतिक संसाधनों के दोहन, पूँजी के असुरक्षित निवेश और उस के उतार-चढ़ाव के आर्थिक सामाजिक और भावात्मक परिणामों और उस उत्पादन को खपाने के लिए बाज़ार की होड़ और उस के राजनीतिक-सैनिक परिणामों में कोई कमी आने की सम्भावना नहीं है। इसी लिए कम्प्यूटर-क्रान्ति के आधार पर विकेन्द्रीकरण की बात करने वाले दूसरी ही साँस में आर्थिक भूमण्डलीकरण की बात करने लग जाते हैं।

इस लिए आर्थिक विकेन्द्रीकरण का वास्तविक तात्पर्य केवल उत्पादन-स्थलों की बहुलता नहीं, बल्कि स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों, उन के अनुरूप विकसित स्थानीय तकनीकी के माध्यम से किया गया वह उत्पादन है जिस का लक्ष्य स्थानीय समाज की बुनियादी ज़रूरतें पूरी करना है। केवल उत्पादन-स्थलों की बहुलता और अधिकाधिक उपभोग की निरन्तरता को लक्ष्य मान कर किया जाने वाला उत्पादन वास्तविक आर्थिक विकेन्द्रीकरण का आधार नहीं बन सकता।

शायद यही कारण है कि जब महात्मा गाँधी जैसे लोग आर्थिक विकेन्द्रीकरण की बात करते हैं तो वे संयमित उपभोग और स्थानीय संसाधनों के आधार पर स्थानीय ज़रूरतों की पूर्ति को उस की अनिवार्य पूर्वशर्त मानते हैं। यदि आर्थिक की परिभाषा और व्याख्या में उत्पादन की मात्रा ही नहीं, बल्कि उस उत्पादन का उपभोक्ता और संसाधनों का भविष्य भी माना जाता है—और क्यों नहीं मानना चाहिए, क्यों कि वही तो अन्ततः आर्थिक प्रक्रिया का वास्तविक लक्ष्य है और लक्ष्य तक पहुँचना ही प्रक्रिया की पूर्णता और वैधता है—तो केवल उत्पादन स्थलों की बहुलता नहीं, बल्कि संयमित उपभोग के लिए उत्पादन ही वास्तविक आर्थिक विकेन्द्रीकरण का आधार बन सकता है और उसी में उत्पादन-सम्बन्ध वास्तविक अर्थों में न केवल भावात्मक स्तर पर मानवीय, बल्कि राजनीतिक स्तर पर लोकतान्त्रिक या कहें स्वराज का घटक बन सकते हैं।

इस लिए आर्थिक विकेन्द्रीकरण केवल उत्पादन का नहीं, बल्कि उपभोग का सवाल भी है, जिस का वास्तविक समाधान कम्प्यूटर में नहीं, बल्कि हमारी जीवन दृष्टि में, हमारे विवेक में है। कम्प्यूटर सूचनाओं का विस्फोट करते हैं, विवेक हमें अपने अन्दर उगाना होता है। गाँधीजी का *स्वदेशी* केवल उत्पादन प्रक्रिया नहीं, बल्कि विवेक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सत्याग्रही प्रौद्योगिकी की ज़रूरत

कुछ समय पहले जयपुर के कुमारप्पा ग्राम स्वराज्य संस्थान द्वारा एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया था। प्रयोजन था विकास की वैकल्पिक अवधारणा पर विचार करना। वैकल्पिक अवधारणा की तलाश की प्रक्रिया में विकास की वर्तमान स्थिति और परिणामों तथा आसन्न चुनौतियों या आवश्यकताओं पर चर्चा होना स्वाभाविक ही था। चर्चा के लिए आमन्त्रित करते हुए संस्थान के अध्यक्ष और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर विजयशंकर व्यास ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकर्षित किया। उन का कहना था कि किसी भी वैकल्पिक अवधारणा पर विचार करते हुए हमें जनसंख्या विस्फोट के सन्दर्भ को हमेशा सामने रखना होगा। वर्तमान विकास की समीक्षा करते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि अब हम रोज़गारविहीन विकास— जॉबलेस ग्रोथ—की स्थिति में आ रहे हैं अर्थात् विकास का तात्पर्य उत्पादन में वृद्धि तो है, पर उस के साथ रोज़गार के अवसरों की उपलब्धता घट रही है।

दरअस्ल, प्रोफेसर व्यास या उन के जैसे हमारे संवेदनशील अर्थशास्त्री रोज़गारविहीन उत्पादन वृद्धि की जिस समस्या से चिन्तित दिखायी दे रहे हैं, वह वास्तव में, विकास की वर्तमान प्रक्रिया की विफलता का नहीं, बल्कि उस की सफलता का अनिवार्य परिणाम है। उत्पादन में वृद्धि विकास का लक्षण है और इस वृद्धि की दर को निरन्तर बढ़ाये जाते रहने के लिए नित नये प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की ज़रूरत पड़ती है। इसे अर्थशास्त्र की भाषा में हाई रेट ऑफ डेवलपमेण्ट—एचआरडी—अर्थात् विकास की उच्च दर कहा जाता है और इसे हासिल करने के लिए प्रौद्योगिकीय रूपान्तरण—टेक्नोलॉजिकल ट्रांसफॉरमेशन— अनिवार्य है। इस प्रौद्योगिकीय रूपान्तरण का तात्पर्य है ऐसी प्रौद्योगिकी को अपनाना जिस में कम-से-कम मानवीय श्रम और सामाजिक समय के निवेश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के माध्यम से अधिक-से-अधिक उत्पादन। स्पष्ट है कि इस *एचआरडी* की ज़रूरत की वजह से अपनायी गयी प्रौद्योगिकी हमारे जीडीपी अर्थात् कुल उत्पादन में तो वृद्धि करती है, पर साथ ही, रोज़गार की सम्भावनाओं को कम करती चली जाती है। कह सकते हैं कि हम एक प्रकार के *प्रौद्योगिकीय नियतिवाद* के शिकार हो रहे हैं क्यों कि विकास के प्रयोजन से जिस प्रौद्योगिकी को हम प्रसन्नतापूर्वक अपना रहे हैं, उसी का एक अनिवार्य परिणाम रोज़गार के अवसरों में होती जा रही निरन्तर कमी है। इसी को अर्थशास्त्री *जॉबलेस ग्रोथ* कह रहे हैं।

लेकिन यह समस्या सिर्फ़ रोज़गार तक सीमित नहीं है। रोज़गार कम होते जाने का वास्तविक तात्पर्य जनसंख्या के एक बड़े हिस्से का क्रयशक्ति से वंचित होते जाना है और क्रयशक्ति के कम होते चले जाने का मतलब है उत्पादन वृद्धि का व्यर्थ या एकांगी हो जाना। रोज़गार न होने के कारण सामान्य समाज बाज़ार का बहुत कम हिस्सा रह जायेगा और ऐसी हालत में केवल उसी क्षेत्र में उत्पादन वृद्धि होगी जिस के लिए बाज़ार उपलब्ध होगा—अर्थात् उत्पादन केवल उस अल्पसंख्यक सम्पन्न वर्ग की आवश्यकताओं पर केन्द्रित होगा जिस के पास क्रयशक्ति बची रहेगी।

यदि रोज़गारविहीनता की इस स्थिति के साथ जनसंख्या विस्फोट को रख कर देखें तो चित्र और भयावह हो उठता है। पहली बात तो यही है कि जब वर्तमान जनसंख्या के लिए भी पर्याप्त रोज़गार उपलब्ध नहीं हैं और हम निरन्तर ऐसी प्रौद्योगिकी अपनाने को लालायित हैं जो रोज़गार के अवसरों को और भी कम कर देगी, तो बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए रोज़गार कहाँ से उपलब्ध करवाया जा सकेगा? यदि इस बढ़ती जनसंख्या को रोज़गार उपलब्ध नहीं होगा तो *सुखी जीवन* की बात तो दूर, वह अपने *रोटी, कपड़ा, मकान* की बुनियादी ज़रूरतें भी कैसे पूरी कर सकेगी? दूसरी बात यह कि यदि येन-केन-प्रकारेण उसे रोज़गार मिल भी जाता है तो भी जनसंख्या वृद्धि को देखते हुए वस्तुओं की माँग इतनी होगी कि उस को पूरा करना सम्भव नहीं हो सकेगा।

अर्थशास्त्रियों का मानना है—और जयपुर में आयोजित संगोष्ठी में प्रोफ़ेसर व्यास का भी यही कहना था कि—हमें माँग को कम करने पर विचार करना होगा। उस के बिना निस्तार नहीं है। दरअस्ल, जनसंख्या नियन्त्रण पर जो ज़बरदस्त आग्रह किया जाता है उस का भी मूल कारण यही है कि इस से माँग कम रहेगी। क्या ऐसा नहीं लगता कि विकास की वर्तमान प्रक्रिया ने हमारे अर्थशास्त्रियों को अजीब-सी साँसत में डाल दिया है? किसी ज़माने में एल्फ्रेड मार्शेल का कहना था—और वर्तमान विकास प्रक्रिया उसी कथन पर टिकी है—कि आर्थिक वृद्धि के लिए *ज़रूरतों की पूर्ति करना ही नहीं, नयी ज़रूरतों की सृष्टि करना* भी आवश्यक होता है। नयी ज़रूरतों की सृष्टि अर्थात् कृत्रिम माँग की सृष्टि, जिस के बिना आर्थिक वृद्धि की सारी प्रक्रिया ढह जा सकती है। मार्शेल के ही शब्दों में कहें तो *यद्यपि अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में मनुष्य की ज़रूरतें ही उसे क्रियाशील करती हैं, लेकिन अनन्तर हर नया क़दम ज़रूरतों के लिए नयी क्रियाशीलता के बजाय ऐसी*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्रियाशीलता के रूप में आता है जो नयी ज़रूरतों को पैदा करती है। कैसी विडम्बना है कि जो विकास ज़रूरतों को बढ़ाने पर आश्रित था, उसी के अलमबरदार अब ज़रूरतों अर्थात् माँग पर नियन्त्रण की बात कर रहे हैं!

मगर एक भारतीय अर्थशास्त्री मोहनदास करमचन्द गाँधी— जिसे कोई अर्थशास्त्री अपनी बिरादरी में शामिल नहीं करता—इस देश के विकास की आधुनिक प्रक्रिया की भूमिका के दौर से ही इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास करता रहा है कि उत्पादन का लक्ष्य हमारी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, न कि उपभोग की कृत्रिम माँगों को पैदा कर के उन की पूर्ति करना। यदि एक बार इस बात को भूल भी जायें कि उपभोग की कृत्रिम माँगों के जाल में फँसना एक व्यक्ति या समाज के लिए नैतिक स्तर पर कितना पतनकारी हो सकता है, तो भी केवल भौतिकवादी दृष्टि अर्थात् अर्थव्यवस्था और शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी महात्मा गाँधी के प्रस्ताव की प्रासंगिकता को कम कर के नहीं आँका जा सकता। यह भी स्मरणीय है कि अपरिग्रह या त्यागपूर्वक भोग—तेन त्यक्तेन भुंजीथा—इस सन्दर्भ में केवल नैतिक या आध्यात्मिक उपदेश नहीं, बल्कि आर्थिक आवश्यकता बन जाते हैं क्यों कि परिग्रह या कृत्रिम भोग की लालसा ही माँगों को अनियन्त्रित करती है। अपरिग्रह या त्याग को ग़रीबी से एक कर के नहीं देखा जाना चाहिए क्यों कि ग़रीबी अभिशाप है, जिस में हमारी बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं, जब कि अपरिग्रह का अर्थ है कृत्रिम उपभोग की लालसा से मुक्ति। उस में बुनियादी ज़रूरतों का तिरस्कार नहीं है। यह हो भी नहीं सकता था क्यों कि गाँधी मानसिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बहुत ज़ोर देते हैं। कम लोग महात्मा गाँधी के उस कथन के बारे में जानते होंगे जिस में वह कहते हैं कि ग़रीबों के लिए तो ईश्वर रोटी और मक्खन के रूप में ही प्रकट हो सकता है। उन का तो यहाँ तक मानना है कि *ग़रीबों के लिए आर्थिक ही आध्यात्मिक है।*

इस लिए महात्मा गाँधी भी उत्पादन को बढ़ाने पर तो ज़ोर देते हैं, लेकिन कृत्रिम माँगों के बजाय बुनियादी ज़रूरतों के लिए। इस उत्पादन वृद्धि की प्रक्रिया या प्रौद्योगिकी भी वही वरेण्य हो सकती है जो रोज़गार के पर्याप्त अवसर उपलब्ध करवा सके। हमारे आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मानना है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी को अपनाये बिना उत्पादन वृद्धि नहीं हो सकती। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह प्रौद्योगिकी रोज़गार के अवसरों की उपलब्धता में निरन्तर कमी करती जाती है, जो आर्थिक विकास की दृष्टि से भी हानिकारक है। गाँधीजी, इस के बरक्स, जब स्वदेशी प्रौद्योगिकी का प्रस्ताव करते हैं तो वह उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ रोज़गार के अवसर बढ़ाने वाला प्रस्ताव भी हो जाता है। आधुनिक प्रौद्योगिकी के आधार पर होने वाले उत्पादन में, शुमाकर के निष्कर्ष के अनुसार, हमारे सामाजिक समय का केवल साढ़े तीन प्रतिशत हिस्सा ही वास्तविक उत्पादन में लगता है।

यदि हम अपने सामाजिक समय का एक बड़ा हिस्सा वास्तविक उत्पादन में लगायें तो न केवल उत्पादन वृद्धि के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी और उस के चलते *प्रौद्योगिकीय*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नियतिवाद के चंगुल से मुक्त हो सकते हैं, बल्कि प्रत्येक हाथ को रोज़गार भी दे सकते हैं। स्वदेशी प्रौद्योगिकी के कई रूप हो सकते हैं—रोबिन क्लार्क और शुमाकर आदि के प्रयोगों से भी लाभ उठाया जा सकता है—मुख्य बात इतनी ही है कि वह मानव-श्रम को उचित और स्वस्थ महत्त्व देती हो। चाहें तो उसे *सत्याग्रही प्रौद्योगिकी* भी कह सकते हैं क्यों कि आग्रह शब्दों पर नहीं, उस दृष्टि पर है जो रोज़गार, उत्पादन और वास्तविक ज़रूरत को अहिंसा के एक सूत्र में बाँध देती है। इन में से किसी एक की भी उपेक्षा से हो रहा विकास मनुष्य के लिए नहीं होगा—चाहे वह केवल *उपभोक्ता मनुष्य* ही क्यों न बन जाये—बल्कि तब मनुष्य के अस्तित्व का प्रयोजन आर्थिक विकास के लिए होगा, और तय है कि यदि कोई मनुष्य या मानव-समूह इस आर्थिक विकास के लिए अनुपयोगी या बोझ हो गया है तो उस का अस्तित्व ही अप्रासंगिक या व्यर्थ हो जायेगा। ऐसे में इस बात से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा कि ऐसे मनुष्यों को यह विकास-प्रक्रिया चाहे-अनचाहे बाहर फेंक देती है या वे स्वयं फिंक जाते हैं। इस लिए मुख्य सवाल उस प्रौद्योगिकी को चुनने का है जिसे हम विकास का आधार बनाते हैं। हमें याद रखना होगा कि बाज़ार की ही तरह प्रौद्योगिकी बहुत अच्छी नौकर हो सकती है, पर बहुत बुरी मालिक!

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

न्यासिता : व्यावहारिक और न्यायोचित

महात्मा गाँधी से प्रेरणा ग्रहण करने वालों में उन के जिस विचार की लगभग अनदेखी की जाती रही है, दरअस्ल, वही आर्थिक चिन्तन के क्षेत्र में उन का सर्वाधिक क्रान्तिकारी विचार है। गाँधीजी के ट्रस्टीशिप यानी न्यासिता के सिद्धान्त को एक यूटोपिया मान कर ही देखा जाता रहा है। ऐसा देखने के पीछे मूलभूत तर्क यही रहा है कि गाँधीजी न्यासिता के लिए *हृदय-परिवर्तन* का मार्ग सुझाते हैं और यह सम्भव नहीं दीखता कि पूँजीपति वर्ग का कोई *सामूहिक हृदय-परिवर्तन* कभी हो सकेगा—इक्का-दुक्का उदाहरणों से अर्थव्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन मुमकिन नहीं है—और ट्रस्टीशिप कभी भी लागू की जा सकेगी। गाँधीवादी शराबबन्दी या गोवधबन्दी को ले कर जिस तरह का नैतिक दबाव बनाने की कोशिश करते रहे हैं, उस का शतांश भी न्यासिता को ले कर नहीं दिखायी देता।

न्यासिता का सिद्धान्त, दरअस्ल, इस ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधारित है कि किसी भी प्रकार का उत्पादन केवल वैयक्तिक प्रतिभा और संसाधनों द्वारा नहीं किया जा सकता, इस लिए उस से मिलने वाले लाभों पर भी किसी एक व्यक्ति, घराने या सीमित व्यक्ति-समूह का अधिकार नहीं माना जा सकता। उत्पादन में जो पूँजी लगती है वह वस्तुतः सार्वजनिक होती है, जिसे शेयरों और बैंक-ऋण आदि के रूप में प्राप्त किया जाता है। उस में जो श्रम लगता है, वह भी प्रकारान्तर से पूँजी ही है क्यों कि उस के बिना उत्पादन सम्भव नहीं होता। जिस कौशल या प्रौद्योगिकी का प्रयोग उत्पादन के लिए किया जाता है, वह तो स्पष्ट ही सम्पूर्ण मानव-जाति की सम्पत्ति है, क्यों कि उस के आविष्कार और विकास के पीछे हज़ारों वर्षों की मानवीय ज्ञान के विकास की परम्परा सक्रिय रहती है, जिसे किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार समाज के सभी सदस्यों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

की संचित सम्पत्ति उत्पादन में लग कर पूँजी का रूप ग्रहण करती है, उसी तरह संचित ज्ञान भी।

श्रम की तरह ज्ञान भी, इस लिए, पूँजी का ही एक रूप है, जो अपनी उत्पत्ति, विकास और स्वभाव-स्वरूप में सामाजिक है। जिन प्राकृतिक संसाधनों—भूमि, खनिज, वनस्पति, जल, हवा और अन्य वस्तुओं और ऊर्जा-स्रोतों—के आधार पर उत्पादन सम्भव होता है, वे तो अपने अस्तित्व में ही सार्वजनिक हैं और उन पर किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का तो क्या, किसी युग-विशेष का भी स्वामित्व नहीं है, क्यों कि उन पर सम्पूर्ण मानव-जाति का ही नहीं, जीव-जगत् मात्र का सार्वकालिक या सनातन स्वामित्व है। विकास की आधुनिकतम अवधारणा भी अब इस बात को स्वीकार करने लगी है कि मानव-जाति के भविष्य की अवहेलना करने वाला विकास न्यायोचित नहीं है। इसे *इन्टरजेनरेशनल जस्टिस* या *सनातन न्याय* कहा जाता है। इस लिए उत्पादन के प्राकृतिक, वित्तीय, ज्ञानात्मक और मानवीय संसाधनों पर किसी का वैयक्तिक स्वामित्व न्यायोचित नहीं ठहरता। ज़ाहिर है कि तब इस उत्पादन से होने वाले मुनाफ़े पर भी वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार करना न्याय की बुनियादी अवधारणा की उपेक्षा करना है।

यह कहा जा सकता है कि इन सभी संसाधनों का उचित मुआवज़ा दे कर ही कोई पूँजीपति इन से होने वाले उत्पादन और उस के लाभ पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। लेकिन तब देखना यह होगा कि ऐसा वह केवल अपने प्रबन्धकीय-कौशल के बल पर करता है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि जैसे ज्ञान, श्रम या अन्य संसाधनों को उन का उचित मुआवज़ा, पारिश्रमिक या मानदेय मिलता है, उसी प्रकार पूँजीपति वर्ग को भी उस के प्रबन्धकीय-कौशल का पारिश्रमिक या मानदेय आदि मिल जाना चाहिए। यदि वह अपने प्रबन्धकीय-कौशल के आधार पर अन्य सब संसाधनों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है तो उसे न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यदि हम अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में इस तरह के अन्याय को स्वीकृति देते हैं तो राज्य, ज्ञान या अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में इस अन्याय यानी राजनीतिक एकतन्त्र, ज्ञान पर विशिष्ट समूहों के एकाधिकार या सामाजिक उच्चता की प्रक्रियाओं का विरोध करने का न्यायोचित आधार कैसे सिद्ध कर पायेंगे?

इसी लिए महात्मा गाँधी न्यासिता का प्रस्ताव करते हैं और अहिंसक प्रक्रिया का हामी होने की वजह से यह आकांक्षा करते हैं कि पूँजीपति वर्ग अपने इस अन्याय का प्रायश्चित्त करते हुए स्वयं को कारख़ानों का स्वामी मानने के बजाय प्रबन्धक की हैसियत में रहना स्वीकार कर लेगा। इसी को वह हृदय-परिवर्तन कहते हैं। लेकिन इस का तात्पर्य यह नहीं है कि वह अनन्तकाल तक इस हृदय-परिवर्तन का इन्तज़ार करते रहने का प्रस्ताव करते हैं। उन के अधिकतर प्रशंसकों में भी यह ग़लतफ़हमी रही है कि गाँधी केवल 'हृदय-परिवर्तन' की बात करते हैं। महात्मा गाँधी का स्पष्ट मत है कि मज़दूर वर्ग को हृदय-परिवर्तन का इन्तज़ार करते रहने की आवश्यकता नहीं है। यदि वे चाहें तो अपने पर हो रहे अन्याय का तत्काल अहिंसक प्रतिरोध कर सकते हैं क्यों कि किसी से भी यह उम्मीद करना पूरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तरह ग़ैरवाजिब होगा कि वह अपने पर हो रहे अन्याय में सहयोग करे। अन्याय का विरोध न करना अन्याय से सहयोग करना है, जिस की अनुमति गाँधी नहीं दे सकते। प्रकारान्तर से यह प्रेम की भावना की उपेक्षा करना भी होगा, क्यों कि हम जिसे प्रेम करते हैं, उसे अन्यायी नहीं होने दे सकते।

कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है, लेकिन यह सच है कि महात्मा गाँधी राज्य से भी यह अपेक्षा करते हैं कि वह सक्रिय हो कर न्यासिता को क़ानून बना कर लागू करे। कुछ मित्रों को ऐसा करना राज्य की हिंसा और पूँजीपति के प्रति क्रूरता लगती है। अभी थोड़े दिन पहले एक संगोष्ठी में एक सहभागी मित्र ने राज्य के माध्यम से न्यासिता की बात को गाँधी-दृष्टि के विपरीत बताते हुए आपत्ति प्रकट की। लेकिन स्वयं गाँधी ही यह प्रस्तावित करते हैं कि राज्य इस बारे में क़ानून बना सकता है—बल्कि अपनी मृत्यु से कुछ ही पहले न्यासिता सम्बन्धी जिस छह-सूत्री फ़ार्मूले को उन्होंने स्वीकृति दी थी, उस में भी स्पष्ट रूप से *राज्य-नियमित न्यासिता* के विचार की स्वीकृति पूरी तरह मुखरित है। दरअस्ल यह राज्य द्वारा हिंसा करना नहीं, बल्कि ग़रीब श्रमिकों को निजी स्वामित्व की हिंसा से बचाना और वृहत्तर समाज को उस का वाजिब हक़ लौटाना है।

इस में व्यक्ति-पूँजीपति पर किसी प्रकार की न केवल हिंसा नहीं है, बल्कि प्रबन्धकीय-कौशल और प्रतिभा के माध्यम से उस की सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति के अवसर देने और उस के उचित पारिश्रमिक या मानदेय अर्थात् उसे मानवीय गरिमा के साथ जीने के साधन उपलब्ध करवाने की भी न्यायोचित व्यवस्था की गयी है। यदि राज्य द्वारा किया गया हर कार्य हिंसा की परिधि में मान लिया जाना चाहिए तो गोवधबन्दी या शराबबन्दी या स्वदेशी उत्पादन-पद्धति को राज्य के माध्यम से लागू करवाना भी हिंसा ही माना जायेगा। यह उल्लेखनीय है कि एक लोकतान्त्रिक राज्य का सर्वप्रथम कर्तव्य अपने नागरिक को *अन्याय* से बचाना है और यदि वह अपने अधिकार में आने वाले सार्वजनिक संसाधनों के ऐसे इस्तेमाल पर रोक लगाता है जिस से बहुसंख्यक नागरिक के साथ अन्याय होता है तो इसे किसी के साथ हिंसा नहीं कहा जा सकता।

न्यासिता किसी की वैयक्तिक इस्तेमाल में आने वाली सम्पत्ति को छीनना नहीं, बल्कि सार्वजनिक संसाधनों पर निजी स्वामित्व का अस्वीकार है, जिस में किसी के प्रति न तो द्वेषभाव है और न अन्याय। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी कुछ आवश्यक बड़े उद्योगों को तो सीधे राजकीय नियन्त्रण में रखने के पक्षधर हैं और यहाँ तक मानते हैं कि उन्हें राजकीय नियन्त्रण में लेने के लिए मुआवज़ा देने की भी अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। उस का निर्णय हर मामले के गुण-दोष के आधार पर किया जाना ही उचित होगा। इस प्रकार गाँधीजी न्यासिता को लागू करने के लिए हृदय-परिवर्तन, श्रमिक असहयोग और राजकीय हस्तक्षेप की त्रि-सूत्री योजना बताते हैं। कुछ मित्र न्यासिता की व्यावहारिकता को लेकर आपत्ति करते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि लोकतन्त्र भी एक प्रकार की राजनीतिक न्यासिता ही है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हो सकता है कि प्रारम्भ में न्यासिता की व्यवस्था में कुछ ख़ामियाँ दिखाई दें। लेकिन क्या हमारा लोकतन्त्र पूरी तरह निर्दोष है ? क्या हम रोज-ब-रोज उस की आलोचना नहीं करते रहते ? फिर भी वह चल रहा है और सारी ख़ामियों के बावजूद हम पुनः किसी एकतन्त्रीय अथवा विदेशी शासन से उसे बेहतर और अधिक व्यावहारिक मानते हैं। जो बात राजनीतिक न्यासिता के लिए सच है, वही आर्थिक न्यासिता के लिए भी। हम उस में आने वाली ख़ामियों को उसी तरह सुधारते रह सकते हैं, जैसे राजनीतिक लोकतन्त्र को सुधारने की कोशिश करते रहते हैं। लेकिन, हर हालत में, न्यासिता निजी स्वामित्व वाली अर्थव्यवस्था से अधिक न्यायोचित, तर्कसम्मत, मानवीय और अहिंसक होगी, जैसे एक कमज़ोर लोकतन्त्र भी एक सक्षम निरंकुश तन्त्र से बेहतर होता है। न्याय अव्यावहारिक नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अर्थसत्ता का लोकतन्त्रीकरण

लोकतन्त्र और समाजवाद के पारस्परिक रिश्ते को ले कर राजनीति के पण्डितों में काफ़ी बहस होती रही है और राजनीति शास्त्र के औपचारिक अध्येता इसे स्वतन्त्रता बनाम समता की बहस के रूप में हवा देते रहे हैं। स्वयं को सोशल डेमोक्रैट कहने वाले विचारक दोनों के बीच सम्बन्ध सूत्र की तलाश भी करते रहे हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि इन दोनों के बीच किसी भी प्रकार का विरोध होना तो दूर, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते।

इस सम्बन्ध में जितनी उलझनें रही हैं, वे लोकतन्त्र की धारणा को ग़लत या अधूरा समझने की वजह से पैदा होती हैं। कुछ लोग हैं जो लोकतन्त्र को शासन की एक प्रणाली मानते हैं; ऐसे लोगों के लिए बहुमत का निर्णय और लोकतन्त्र, एक ही बात हो जाती है। अभी कुछ अरसे पहले जब मेरे एक मित्र ने इसी पटरी पर बात चलाने की कोशिश की तो मैंने कहा कि तब तो किसी भी सरकार का कोई भी क़दम सदा लोकतान्त्रिक ही रहेगा और साथ ही यह भी पूछा कि यदि बहुमत वर्ग यह तय कर ले कि अल्पसंख्यक वर्ग का बलपूर्वक उन्मूलन कर दिया जाय तो यह निर्णय बहुमत का निर्णय होने के बावजूद क्या लोकतान्त्रिक कहा जा सकेगा ? मित्र चुप हो गये। आश्चर्य है कि वह राजनीति शास्त्र के प्रोफ़ेसर हैं। लेकिन यही स्थिति अधिकांश शिक्षित वर्ग की है।

इस का मतलब साफ़ है कि लोकतन्त्र सिर्फ़ शासन चलाने की बहुमतसम्मत प्रणाली नहीं है, यद्यपि उस में हम कामचलाऊ तौर पर बहुमत के निर्णय का आदर करते हैं। इसी लिए कुछ लोग इसे एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा मानते हैं जो व्यक्ति के सम्मान और उस की स्वतन्त्रता की धारणा पर आधारित है। इस लिए लोकतन्त्र में किसी भी बहुमत को यह अधिकार नहीं पहुँचता कि वह किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों को आघात पहुँचाये। संविधान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

निर्माण करते समय मूल अधिकारों की व्यवस्था इसी लिए की जाती है ताकि कोई भी व्यवस्था बहुमत की शक्ति के आधार पर किसी भी व्यक्ति की बुनियादी स्वतन्त्रता और अधिकारों का अपहरण न कर सके। लेकिन लोकतन्त्र को सिर्फ़ राजनीतिक विचारधारा मान लेने का एक नतीजा यह भी निकल सकता है—और वैसा होता भी रहा है—कि अपनी स्वतन्त्रता के अधिकार के उपयोग के बहाने कोई एक दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर ले अथवा ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दे जिन में दूसरों की स्वतन्त्रता मात्र औपचारिक या काग़ज़ी होकर रह जाय। इस लिए यह ध्यान रखना ज़रूरी हो जाता है कि कोई भी अपनी स्वतन्त्रता के अधिकार के बहाने लोकतान्त्रिक मूल्यों को आघात न पहुँचा पाये।

इस प्रकार अपने आदर्श रूप में लोकतन्त्र न तो मात्र शासन चलाने का एक तरीक़ा हो सकता है और न सिर्फ़ राजनीतिक विचारधारा। वह एक ऐसा जीवन-दर्शन हो जाता है जो स्वतन्त्रता को एक अधिकार मात्र मानने से नहीं, वरन् उसे एक मानवीय मूल्य समझ लेने से निस्सृत होता है। लोकतान्त्रिक मूल्यबोध के आधार पर विकसित व्यवस्था में ही यह सम्भव हो पाता है कि कोई भी व्यक्ति या बहुमत अपनी स्वतन्त्रता के नाम पर किसी अन्य की स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके। दूसरे शब्दों में इस मूल्यबोध से प्रसूत समाज-रचना में सभी व्यक्ति अपने में *अलग होते हुए भी बराबर* रहते हैं। इसी लिए प्रत्येक व्यक्ति को इस व्यवस्था में अपने विवेक के प्रयोग का समान अधिकार और समान मताधिकार प्राप्त होता है और किसी भी व्यक्ति या व्यवस्था को यह छूट नहीं दी जा सकती कि वह किसी की राय में बलात् परिर्वतन करने की कोशिश करे या इस आधार पर व्यवहार में उस के साथ भेदभाव करे।

यहाँ तक मानने में अधिसंख्य लोगों को दिक्कत नहीं होती बल्कि राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी वे इसे आसानी से स्वीकार कर लेते हैं और इसी लिए तो छुआछूत या जातिगत ऊँच-नीच की भावना का विरोध करते हैं तथा कानून के समक्ष सब की समानता की बात को स्वीकार करते हैं। लेकिन ये लोग ही आर्थिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त को लागू करने में पता नहीं क्यों कतराते हैं। राज्य को यदि किसी की निजी संस्था न मान कर एक सार्वजनिक संस्था माना जाता है तो इसी लिए कि उस का विकास सभी के द्वारा होता है और सभी के जीवन से उस का सीधा सम्बन्ध है। अतः, किसी एक व्यक्ति, परिवार या दल का उस पर स्वामित्व नहीं माना जा सकता। यदि राजनीतिक क्षेत्र में इस आधार को उचित माना जाता है तो आर्थिक क्षेत्र में इसे लागू करना लोकतन्त्रसम्मत क्यों नहीं कहा जा सकता? आर्थिक व्यवस्था का विकास भी किसी एक व्यक्ति या परिवार के बूते पर सम्भव नहीं है—बल्कि प्राकृतिक साधनों और मानवीय श्रम के दोहन के आधार पर ही आर्थिक विकास और उस का संचालन सम्भव होता है। वे भी किसी की निजी सम्पत्ति नहीं कहे जा सकते।

यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि कोई अपनी योग्यता और सामर्थ्य के बल पर आर्थिक साधनों पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है तो वह उस का अधिकार हो जाता है और उसे इस के उपभोग या उत्तराधिकार में किसी को देने से रोकना उस की स्वतन्त्रता के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अधिकार को कुण्ठित करना है। लेकिन तब ठीक यही तर्क राजनीतिक व्यवस्था के क्षेत्र में लागू क्यों नहीं किया जा सकता ? क्या राजनीति में योग्यता या पहल काम नहीं देती ? लेकिन हम किसी को भी—चाहे वह कितना ही योग्य क्यों न हो—हमारी राजनीतिक व्यवस्था ज़िन्दगी-भर के लिए अथवा उस के वारिसों को दे देने के लिए नहीं सौंप सकते हैं।

कुछ लोग इस तर्क-साम्य पर झुँझला कर कह देते हैं कि राजनीति के तर्क को अर्थनीति पर लागू नहीं किया जा सकता क्यों कि ये दोनों अलग-अलग क्षेत्र हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह तर्क-प्रणाली राजनीति या अर्थनीति से नहीं बल्कि उस मानवीय मूल्यबोध से प्रसूत होती है जो हमारी सारी समाज-रचना और मानवीय सम्बन्ध-व्यवस्था का आधार है। अतः, इसे एक क्षेत्र में स्वीकार और दूसरे में अस्वीकार करना एक अन्तर्विरोध को जन्म देना और इस प्रकार जीवन की समग्रता को खण्डित करना है। और फिर, जिस प्रकार राज्य सत्ता का एक प्रकार है, उसी प्रकार पूँजी भी सत्ता का ही एक प्रकार है; अतः, जिस आधार पर राजसत्ता का लोकतन्त्रीकरण वांछनीय है, उसी आधार पर अर्थसत्ता का लोकतन्त्रीकरण भी काम्य है।

इस प्रकार, मुझे लगता है कि जिन आधारों पर कुछ लोग अर्थव्यवस्था के सार्वजनीनीकरण का विरोध तथा निजी स्वामित्व का समर्थन करते हैं, उन आधारों पर गहरे में जाकर वे लोकतन्त्र के विरोधी और एकतन्त्र के समर्थक भी हो सकते हैं—बल्कि ऐसा लगता है कि लोकतन्त्र उन के लिए कोई मूल्य-तन्त्र नहीं बल्कि एक सुविधा है। शायद यही कारण है कि सीधे संघर्ष के अवसर पर ऐसे लोग व्यक्तिगत स्वामित्व के लिए फाशीवाद या एकतन्त्र का समर्थन कर देते हैं। लोकतान्त्रिक कही जाने वाली सरकारें यदि सैनिक सरकारों, तानाशाहों या सर्वसत्तावादी सरकारों का समर्थन कर देती हैं तो उस का कारण सिर्फ़ राष्ट्रीय स्वार्थ ही नहीं, उन के सोच की बनावट भी होती है।

यह ठीक है कि अर्थ-व्यवस्था के राष्ट्रीयकरण के अपने ख़तरे हैं, लेकिन वे ख़तरे उसी प्रकार के हैं, जिस प्रकार के लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था में केन्द्रीकरण के होते हैं। जिस प्रकार राजनीति में हम केन्द्रीकृत लोकतन्त्र के स्थान पर पुनः राजतन्त्र या एकतन्त्र को किसी भी क़ीमत पर अपनाना नहीं चाहते, उसी प्रकार अर्थनीति में भी सार्वजनीनीकरण के स्थान पर निजी स्वामित्व को वरीयता देना युक्ति-संगत और उचित नहीं कहा जा सकता। इस लिए समाधान निजी स्वामित्व का समर्थन नहीं, बल्कि राजसत्ता के साथ-साथ अर्थसत्ता का भी लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण है—ऐसा विकेन्द्रीकरण जिस में हर स्तर पर नागरिकों, सभी उत्पादकों और उपभोक्ताओं का सहयोग और भागीदारी हो तथा अधिक योग्यता या पहल कर सकने वाले लोगों की हैसियत सावधि प्रबन्धकों से अधिक न हो। लेकिन इस के लिए सिर्फ़ यही ज़रूरी नहीं है कि व्यवस्था निर्मित कर दी जाय, बल्कि यह और भी ज़रूरी है कि नेतृत्व में संकल्प और क्षमता तथा नागरिकों में जागरूकता और आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष का सामर्थ्य हो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वदेशी ही विकल्प है

असंगठित क्षेत्र की उद्यमिता के लिए राष्ट्रीय आयोग ने इस क्षेत्र में रोज़गार और काम की परिस्थितियों को ले कर हाल ही में एक रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिस के निष्कर्ष नयी आर्थिक नीति के अलमबरदारों के लिए आँखें खोल देने वाले होने चाहिए। लेकिन, हमारी व्यवस्था की एक उल्लेखनीय चारित्रिकता यह है कि वह अपने ही द्वारा बनाये गये आयोगों की रपटों और सिफ़ारिशों को विचारणीय नहीं मानती। ये आयोग या समितियाँ आदि सरकार द्वारा ही बनायी जाती हैं। इन के अध्यक्ष और सदस्य वही लोग होते हैं जिन्हें सरकार तत्सम्बन्धी क्षेत्र का विशेषज्ञ मानती है। लेकिन, जब ये अपनी सिफ़ारिशें और निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं तो सरकार उन्हें सिर के नीचे तकिए की तरह रख कर तब तक सोयी रहती है जब तक जागने की कोई मजबूरी न पैदा हो जाय। इस से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि मामला दंगों की जाँच करने वाले श्रीकृष्ण आयोग का है या किसी अन्य क्षेत्र से सम्बन्धित नीतियों में सुधार का।

असंगठित क्षेत्र की उद्यमिता के लिए बनाये गये राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष अर्जुन सेनगुप्त ने इस रिपोर्ट के बारे में दिये गये एक साक्षात्कार में एक बहुत गम्भीर बात चेतावनी के स्वर में कही है। उन का कहना है कि यदि असंगठित क्षेत्र के लोगों की बात लोकतान्त्रिक तरीक़ों से प्रभाव नहीं डाल पाती है तो उन के पास दूसरा रास्ता नक्सलवाद का ही बचता है। किसी राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष की इस चेतावनी को नज़रअन्दाज़ करना निश्चय ही ख़तरनाक साबित हो सकता है।

इस चेतावनी में प्रचलित आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों की विफलता का स्वीकार भी अन्तर्निहित है। यह स्वीकार किया गया है कि देश की जनसंख्या के लगभग सतहत्तर प्रतिशत को उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों का कोई लाभ नहीं मिला है—चाहे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सकल राष्ट्रीय उत्पाद में हो रही वृद्धि पर हमारे कर्णधार कितना ही अपनी पीठ ठोंकते रहें। सच तो यह है कि आर्थिक नियोजन उन की ही ज़्यादा फ़िक्र करता दिखायी दे रहा है, जो अपनी फ़िक्र कर सकने में समर्थ हैं। उसे उन वर्गों की कोई फ़िक्र नहीं है, जिन्हें वास्तव में उस की मदद की ज़रूरत है। हमारी कृषि नीति का लाभ बड़े किसानों को मिला है, छोटे किसान या खेतिहर मज़दूर आत्महत्या के लिए मजबूर होते रहे हैं। इसी तरह उद्यमिता के क्षेत्र में उच्च वर्ग और उच्च मध्यवर्ग को ही लाभ पहुँचता रहा है, जब कि निम्न वर्ग यानी छोटे कारीगरों, दस्तकारों और असंगठित मज़दूरों के हालात निरन्तर बिगड़ते गये हैं। आयोग ने अपनी रपट में इन को भी चार वर्गों में विभाजित करते हुए इन का प्रति व्यक्ति दैनिक ख़र्च नौ रुपए, बारह रुपए, पन्द्रह रुपए और बीस रुपए माना है। यानी इन्हें अपना काम कम से कम दो सौ सत्तर रुपए मासिक और अधिकतम छह सौ रुपए मासिक से चलाना पड़ रहा है।

सवाल यह उठता है कि जिन नीतियों और वृद्धि को हम राष्ट्रीय कह रहे हैं, वे किन अर्थों में राष्ट्रीय हैं? जिन नीतियों का लाभ केवल बीस-पचीस प्रतिशत जनसंख्या को मिल रहा हो, उन्हें क्या किसी लोकतान्त्रिक अर्थ में सचमुच *राष्ट्रीय* कहा जा सकता है? आजकल *विकास* को लेकर बहुत चिन्ता है। विकास का क्या अर्थ है? सकल राष्ट्रीय उत्पाद या सकल राष्ट्रीय कल्याण? और जब हम सकल राष्ट्रीय कल्याण की बात करें तब भी यह देखना ज़रूरी होगा कि इस सकलता का आधार एक सीमित वर्ग का अधिक कल्याण और बहुसंख्यक वर्ग का आभासी कल्याण न हो।

असंगठित क्षेत्र के उद्यमियों की उपेक्षा के परिणाम केवल इस वर्ग के लोगों को ही नहीं भुगतने पड़े हैं। यदि ये वर्ग भारत राष्ट्र के अंग हैं तो मानना चाहिए कि इन की उपेक्षा पूरे राष्ट्र को पंगु बना रही है। यहाँ विकास-अध्ययनों की इस चेतावनी को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि नयी आर्थिक नीतियों के चलते जो वृद्धि हो रही है वह रोज़गारपरक नहीं है। इसे रोज़गारहीन वृद्धि—जॉबलेस ग्रोथ—कहा जा रहा है। इस का सीधा-सा मतलब यह है कि इन नीतियों के चलते मध्य वर्ग के रोज़गारों में भी कमी ही होगी। ऐसी स्थिति में निम्न वर्ग के असंगठित लोगों पर क्या गुज़रेगी, इस का अन्दाज़ा आसानी से लगाया जा सकता है। यह भी स्पष्ट है कि रोज़गार के अभाव में क्रयशक्ति से वंचित लोगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी, जिस का परिणाम विकास की उस प्रक्रिया को भी भुगतना होगा जो केवल उत्पादन वृद्धि को ही अपना लक्ष्य मानती है। बाज़ार बढ़ने के बजाय वास्तविक अर्थों में सिकुड़ेगा, जिसे उदारवादी आर्थिक नीतियों की विफलता ही कहा जाना चाहिए।

रिपोर्ट में यह सुझाया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों के कारीगरों-दस्तकारों आदि की मदद के लिए उसी तरह संकुल इकाइयाँ संगठित की जानी चाहिए, जिस तरह संगठित क्षेत्र के लिए *विशेष आर्थिक क्षेत्र* बनाये जा रहे हैं। दूसरे शब्दों में, ग्रामीण जनसंख्या के विकास के लिए ग्रामीण उद्योगों और कला-कौशल को विकसित किया जाना और इस के लिए ऋण, बाज़ार आदि की व्यवस्था किया जाना ज़रूरी होगा, लेकिन क्या यही बात

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दूसरी शब्दावली में महात्मा गाँधी नहीं कह रहे थे? प्रत्येक गाँव अपनी ज़रूरत की चीज़ें स्वयं उत्पादित कर सके और अपनी ज़रूरत से अधिक होने पर उसे राष्ट्रीय बाज़ार तक पहुँचा सके—सरल शब्दों में महात्मा गाँधी की स्वावलम्बी गाँव पर आधारित स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था का यही तो आधार है। स्थानीय उद्यमिता स्थानीय संसाधनों और तकनीक पर आधारित होने से ही पनप सकती है—यही तो *स्वदेशी* का मूल आधार है। तो क्या हम घूम-फिर पुनः इसी नतीज़े पर पहुँच रहे हैं कि *स्वदेशी* और ग्राम-आधारित उद्योग-धन्धों पर आधारित अर्थव्यवस्था ही इस देश की *वास्तविक* राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हो सकती है, क्यों कि उस के बिना जो विकास होगा, वह असली अर्थों में पूरे राष्ट्र का नहीं, बल्कि उस के एक अल्पांश का ही होगा। और तब क्या भारत को एक वास्तविक लोकतन्त्र कहा जा सकेगा? लोकतन्त्र का अर्थ सत्ता में प्रत्येक नागरिक की भागीदारी है। सत्ता के कई रूप होते हैं—राजसत्ता, अर्थसत्ता, ज्ञानसत्ता, सामाजिक सत्ता आदि। इस लिए केवल मतदान का अधिकार लोकतन्त्र को पुष्ट नहीं करता। वह उस की एक बुनियाद अवश्य डालता है। लेकिन, जब तक अर्थ और ज्ञान की सत्ता में प्रत्येक नागरिक की भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो जाती—समाज-सत्ता तो उसी का फल है—तब तक हम अपनी व्यवस्था को शब्द के सही अर्थों में लोकतन्त्र नहीं कह सकेंगे।

लेकिन, जहाँ स्वयं राजसत्ता अर्थसत्ता द्वारा निर्देशित हो रही हो, वहाँ ज्ञान-सत्ता का उस से मुक्त होना कैसे सम्भव हो सकता है? हमारे नीति-निर्माता साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा को तो सब वर्गों तक पहुँचाना चाहते हैं, लेकिन उच्च शिक्षा को बाज़ार के भरोसे छोड़ देने की मंशा प्रकट करते रहे हैं। देश में निजी शिक्षण संस्थानों और विश्वविद्यालयों तक की बाढ़ आयी हुई है, जिन में शिक्षा ग्रहण कर पाना उच्च मध्यवर्ग से नीचे के तबक़े के लोगों के लिए सम्भव ही नहीं है। उच्च शिक्षा के सार्वजनिक संस्थानों में भी फ़ीसों की कई गुना बढ़ोतरी के प्रस्ताव स्वयं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग कर रहा है। साक्षरता और प्राथमिक शिक्षा तो ज़रूरी हैं ही, लेकिन उस की इतनी चिन्ता इस लिए की जा रही है कि उस से वर्तमान आर्थिक नीतियों को थोड़ा और सुचारु रूप से चलाया जा सके। लेकिन, यदि निम्न वर्गों को उच्च शिक्षा तक पहुँचने से रोक दिया जाता है तो उस सामाजिक गतिशीलता का क्या होगा, जिस की दुहाई पूँजीवादी लोकतन्त्र अपने पक्ष-समर्थन के लिए देते रहे हैं? डॉ. लोहिया से शब्द उधार लेकर कहें तो यह वर्ग को वर्ण में बदल देने का नया और सूक्ष्म तरीक़ा होगा—ऐसा तरीक़ा, जिस में वर्ण अपने पारम्परिक ज्ञान से वंचित हो गया होगा और नये वर्ग में रूपान्तरित हो पाने के लिए आवश्यक ज्ञानसत्ता से भी वह वंचित ही रहेगा। यह एक नयी तरह की सामाजिक जड़ता होगी जो आभास तो गतिशीलता का देगी, लेकिन एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ेगी—जैसे क़दमताल या स्टैण्ड पर खड़ी साइकिल का घूमता पहिया।

लेकिन, क्या देश की बहुसंख्यक जनसंख्या को लम्बे अरसे तक इस तरह रखा जा सकता है? और यदि नहीं रखा जा सकता है तो उपाय क्या है? क्या हमें इस परिप्रेक्ष्य में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपनी नीतियों और कार्यक्रमों पर पुनर्विचार की ज़रूरत नहीं है? यदि हम एक लोकतन्त्र हैं तो यह पुनर्विचार हमारी नैतिक ही नहीं, फ़ौरी आर्थिक-राजनीतिक ज़रूरत भी है। अर्जुन सेनगुप्त की इस चेतावनी की अनदेखी नहीं की जा सकती कि यदि हम वंचित वर्गों की आवाज़ लोकतान्त्रिक तरीक़े से नहीं सुन पाते हैं तो दूसरा रास्ता नक्सलवाद का ही बच रहता है। देश में कर्नाटक से लेकर नेपाल की सीमा तक जो *रेड कॉरिडोर* बन रहा है और पूर्वोत्तर के इलाक़ों में भी जो असन्तोष बढ़ रहा है, उस से केवल क़ानून-व्यवस्था के सहारे नहीं निपटा जा सकता। यह ठीक है कि भारतीय राज्य इतना मज़बूत है कि वह नक्सलवाद को पूरी तरह सफल नहीं होने देगा, लेकिन संवेदनशीलता की अपेक्षा छोड़ भी दें तो भारतीय राज्य-व्यवस्था के लिए यह कोई राजनीतिक समझदारी की बात भी नहीं होगी कि वह अपनी ही नीतियों की वजह से अपने लिए इतना बड़ा ख़तरा विकसित करती रहे। अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य के लिए भी इसे अवांछनीय ही माना जा सकता है।

क्या हमारे कर्णधार इस बात को सुन-समझ रहे हैं? यह बहुत उल्लेखनीय संयोग है कि हमारी राज्य-व्यवस्था में अधिकतर युगान्तरकारी नीति-निर्णय अल्पमत सरकारों द्वारा लिए जाते रहे हैं और वामपन्थी लोकतान्त्रिक राजनीति उन का समर्थन करती रही है—अधिकांशतः अपने सैद्धान्तिक-नैतिक विरोध के बावजूद। इन्दिरा गाँधी की अल्पमत सरकार के समाजवादी निर्णयों का समर्थन तो फिर भी ठीक था, लेकिन नरसिंहराव के नेतृत्व में अल्पमत सरकार द्वारा आर्थिक नीतियों को पूरी तरह बदल दिये जाने और अब मनमोहनसिंह की अल्पमत सरकार द्वारा देश को पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था का एजेण्ट बना देने को भी वामपन्थी राजनीति यदि समर्थन देती रहती है तो वह भविष्य में पुनः एक *ऐतिहासिक भूल* को स्वीकार करने की भूमिका बना रही होगी! उन का वास्तविक रास्ता आज जिस चौराहे पर है वहाँ से गाँधी का रास्ता ही उन की सही दिशा हो सकता है, इसे वे कब समझेंगे?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है श्रम

सामान्यतया संस्कृति का ज़िक्र होते ही हमारा ध्यान कला-संगीत-साहित्य की ओर ही जाता है और जब किसी समाज के सांस्कृतिक विकास की बात होती है तो हम उस के महान् साहित्यकारों, संगीतज्ञों और चित्रकारों-मूर्तिकारों आदि की उपलब्धियों का उल्लेख करने लगते हैं। यह ठीक है कि किसी समाज की साहित्यिक और कलात्मक क्रियाशीलताएँ उस की संस्कृति का अपरिहार्य अंग होती हैं, लेकिन केवल उन्हें ही संस्कृति मान लेना एक गहरी भूल होगी। साहित्यिक और कलात्मक क्रियाशीलताएँ अनिवार्यतः मूल्यान्वेषण और मूल्यानुभूति की प्रक्रियाएँ होती हैं और उन्हें यदि सांस्कृतिक प्रक्रिया माना जा सकता है तो इस लिए कि संस्कृति भी सारतः मूल्यान्वेषण और मूल्यबोध की ऐसी वृहत्तर प्रक्रिया है, जिस में समस्त प्रकार की मानवीय क्रियाशीलताएँ समाहित हो जाती हैं।

किसी गाँव, प्रदेश अथवा समाज में किसी कालिदास, शेक्सपियर अथवा रवीन्द्रनाथ टैगोर के न होने के आधार पर उसे असंस्कृत अथवा संस्कृतिविहीन नहीं कहा जा सकता—यदि उस के सदस्यों का वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार किसी मूल्यबोध से प्रेरित-अनुप्राणित दिखायी देता है। ठीक इसी तरह, केवल किसी शेक्सपियर या कालिदास के हो जाने से ही किसी समाज को सुसंस्कृत नहीं माना जा सकता—यदि वह अपने वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार में कपट, हिंसा और अन्याय अथवा किसी भी तरह के शोषण-दमन का आश्रय लेता हो।

लेकिन जब हम वैयक्तिक अथवा सामाजिक व्यवहार की बात करते हैं तब भी हमारे विचार में प्रेम, मैत्री, अहिंसा, समानता, स्वतन्त्रता आदि मूल्य तो आते हैं और आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र में उन की व्याप्ति की ओर भी हमारा ध्यान जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
है—एक शोषणमुक्त या वर्गविहीन समाज की स्थापना के आदर्श की ओर भी—लेकिन इस में जिस एक बात के प्रति हम बेध्यान हो जाते हैं, वह है मानवीय श्रम के प्रति संस्कृति का दृष्टिकोण। कुछ ऐसे अर्थशास्त्री तो मिल जाते हैं जो पूँजी-आश्रित तकनीकी के बजाय श्रम-आश्रित तकनीकी का आग्रह करते हैं, लेकिन यह आग्रह मूलतः एक आर्थिक आग्रह ही होता है क्यों कि उन की दृष्टि में ऐसी प्रौद्योगिकी को अपनाने पर ही हम बेरोज़गारी की समस्या से छुटकारा पा सकते हैं। मगर यदि रोज़गार की समस्या न हो, यदि किसी समाज ने पूँजी-आश्रित आधुनिक तकनीकी के आधार पर ही अपनी बेरोज़गारी की समस्या को सुलझा लिया हो, तो क्या उस समाज में श्रम अप्रासंगिक हो जायेगा? क्या श्रम का सवाल केवल आर्थिक क्षेत्र का सवाल है? क्या संस्कृति या मूल्यबोध से उस का कोई सम्बन्ध नहीं है? और यदि संस्कृति या मूल्यबोध से भी उस का सम्बन्ध है तो ज़ाहिर है कि उस पर केवल अर्थशास्त्रीय दृष्टि से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि अर्थात् मूल्यबोध के आधार पर भी विचार किये जाने की ज़रूरत से इनकार नहीं किया जा सकता।

मुझे याद पड़ता है कि बहुत पहले अज्ञेय ने श्रम पर सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करने का प्रस्ताव किया था। *संस्कृति की चेतना* शीर्षक से जोधपुर में दिये गये अपने एक व्याख्यान में उन्होंने अन्य कई बातों के साथ इस बात पर विशेष बल दिया था कि संस्कृति की चेतना में श्रम की अनदेखी नहीं की जा सकती। उन्होंने संस्कृतियों के विकास-क्रम में श्रम-सम्बन्धों में हो रहे परिवर्तनों को मान्यता देते हुए यह सवाल उठाया था कि किसी संस्कृति को समझने के लिए इस बात की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि स्वयं श्रम के प्रति उस की दृष्टि किस प्रकार की है। दूसरे शब्दों में, इस सवाल पर आग्रह का तात्पर्य ही यह है कि श्रम केवल आर्थिक *कैटेगरी* नहीं है, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। एक आर्थिक कैटेगरी के रूप में उस पर इसी दृष्टि से विचार किया जा सकता है कि उस का आर्थिक परिणाम अर्थात् उस से होने वाले उत्पादन का मूल्य क्या है और उस से होने वाले मुनाफ़े में किस की कितनी भागीदारी है और यह वितरण कहीं किसी प्रकार के शोषण को तो प्रश्रय नहीं दे रहा।

निश्चय ही, अर्थशास्त्रीय दृष्टि से इन सवालों का महत्त्व है और किसी भी अर्थव्यवस्था को इन सवालों के समुचित उत्तर तलाश करने ही होंगे। इन सवालों के सन्तोषजनक समाधान न तलाश कर पाने पर वह अर्थव्यवस्था शोषण की प्रेरक और अन्यायपूर्ण मानी जायेगी। दूसरे शब्दों में, इस का अर्थ यह होगा कि ऐसी व्यवस्था अनैतिक होगी और जो अनैतिक है, उसे मूल्यबोध की दृष्टि से संस्कृति नहीं माना जा सकेगा। पूँजीवाद इसी कारण एक अनैतिक और असंस्कृत व्यवस्था है, चाहे इस व्यवस्था में कितने ही महान् कलाकार और साहित्यकार क्यों न हो गये हों—और गहराई से देखें तो ये कलाकार और साहित्यकार अपने पारस्परिक मतभेदों के बावजूद संवेदना के स्तर पर मानवीय प्रेम और आत्मीयता की तलाश करते मिलेंगे। आधुनिक जीवन के तनावों-दबावों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को ले कर यदि कोई वितृष्णा, विरोध या निराशा का भाव भी उन में मिलता है, तो वह प्रकारान्तर से प्रेम और आत्मीयता की तलाश की ही अभिव्यक्ति है।

कह सकते हैं कि मोटे तौर पर आधुनिक कला या साहित्य आधुनिकतावादी सभ्यता के सम्मुख एक प्रकार का संवेदनात्मक सत्याग्रह है। लेकिन फ़िलहाल हमारा मुख्य प्रयोजन एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में श्रम पर विचार करना है। यदि किसी व्यक्ति या समाज को आर्थिक दृष्टि से श्रम की ज़रूरत न हो तो उसे क्या करना चाहिए? यदि श्रम की कोई आर्थिक ज़रूरत न हो तो क्या वह अप्रासंगिक हो जाता है? कहा जा सकता है कि आर्थिक दृष्टि से तो नहीं, पर शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी श्रम की ज़रूरत हो सकती है। लेकिन इस तरह का शारीरिक श्रम तो कुछ व्यायाम अथवा खेलकूद आदि के माध्यम से भी हो ही जाता है। सामन्तवादी या पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं कि धनवान या सत्तासीन लोग कसरत-व्यायाम के शौकीन होते हैं और कई तो बहुत ताक़तवर भी हो जाते हैं, लेकिन अन्य किसी भी प्रकार के शारीरिक श्रम को वे हेय मानते और ऐसे काम अपने चाकरों से करवाते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ श्रम की दैहिक उपयोगिता तो है, लेकिन मानसिक या भावात्मक उपयोगिता नहीं, और इसी कारण इन समाजों या वर्गों के लिए श्रम कोई सांस्कृतिक प्रक्रिया नहीं बन पाता। जब हम श्रम को आर्थिक या कोई भौतिक आवश्यकता मात्र समझते हैं तो वह हमारा वरण नहीं, बल्कि विवशता हो जाता है, जब कि संस्कृति की सार्थकता हमारी विवशता से नहीं, स्वतन्त्र वरण से अर्जित होती है। इस का तात्पर्य यह हुआ कि किसी संस्कृति पर विचार करते हुए अन्य बातों के साथ हमें यह भी देखना होगा कि उस में श्रम विवशता है या वरण। श्रम से केवल भौतिक वस्तुओं का उत्पादन ही नहीं होता, उस से एक प्रकार का सर्जनात्मक सुख और आत्मतोष भी प्राप्त होता है। मशीन पर उत्पादन करने वाले श्रमिक और हाथ से काम करने वाले दस्तकार या कारीगर के काम का फ़र्क़ केवल आर्थिक नहीं, भावात्मक भी है। यह तो ठीक है कि दोनों स्थितियों में उस की आर्थिक ज़रूरत तो पूरी होनी ही चाहिए, लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से उस की भावात्मक ज़रूरत, उस के सर्जनात्मक सुख और भावात्मक आत्मतोष का महत्त्व कम नहीं है। इस लिए जब श्रम-आधारित आर्थिक प्रक्रिया का आग्रह किया जाता है तो वह केवल आर्थिक तर्क से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से किया जाने वाला आग्रह भी है।

महात्मा गाँधी जैसे विचारक और शुमाकर जैसे अर्थशास्त्री जब श्रम-आधारित तकनीकी का आग्रह करते हैं तो वे कहीं इस तथ्य को भी पहचान रहे होते हैं कि प्रौद्योगिकी भी संस्कृति की रचना में एक निर्णायक भूमिका अदा करती है और इसी लिए संस्कृति-चेतना से सम्पन्न समाज को ऐसी तकनीकी को अपनाना चाहिए जो उस की आर्थिक ज़रूरतों को पूरा करने के साथ उस की सांस्कृतिक प्रक्रिया, उस के मूल्यान्वेषण और उस के आत्मबोध की प्रक्रिया का भी माध्यम हो सके। यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी का आग्रह श्रम की अवहेलना का है। उस के पीछे काम कर रही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तत्त्व-दृष्टि श्रम को एक विवशता मान कर उस से मुक्ति की दिशा में प्रयासरत होना चाहती है। इस लिए वह हर क्षेत्र में ऐसी स्वचालित तकनीकी पर आग्रह करती है जिस में सामान्य मानवीय श्रम की भी कम-से-कम ज़रूरत रहे—चाहे वह सामान्य मानवीय श्रम चार क़दम चलना या केवल हाथ हिलाना ही क्यों न हो।

स्पष्ट है कि यह दृष्टि मानवीय देह को केवल ऐन्द्रिक उपभोग का माध्यम मान कर उस की अवमानना कर रही होती है। कभी-कभी लगता है कि यदि सम्भोग, स्वाद या दृश्य आदि से मिलने वाला आनन्द किसी स्वचालित प्रक्रिया अथवा औषधि आदि के परिणामस्वरूप मिल सके तो सहवास या चबाने आदि में जो श्रम करना पड़ता है, उस की भी ज़रूरत नहीं रह जायेगी। सन्तान तो बिना गर्भधारण के भी उत्पन्न हो सकेगी; और सन्तान ही क्यों, किसी औषधि के प्रभाव से ममता की अनुभूति देने वाली ग्रंथियों को भी संवेदित किया जा सकेगा—लेकिन गर्भधारण से मिलने वाले मातृत्व-सुख और लालन-पालन से मिलने वाली अपने अस्तित्व की सार्थकता की अनुभूति वहाँ सम्भव नहीं हो सकेगी। दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक सार्थकता के लिए श्रम अपरिहार्य होगा। वह श्रम स्वतन्त्र वरण है, विवशता नहीं।

महात्मा गाँधी ने यदि अपनी शिक्षा-प्रक्रिया और आश्रम-व्यवस्था में श्रम को महत्त्व दिया तो उस के पीछे यही दृष्टि सक्रिय थी कि श्रम के बिना संस्कृति की रचना सम्भव नहीं है; कि श्रम केवल आर्थिक या दैहिक आवश्यकता नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जो मनुष्य को उच्चतर भूमि पर ले जाती है। सम्पूर्ण देह वहाँ एक आध्यात्मिक प्रक्रिया का माध्यम बन जाती है क्यों कि श्रम न केवल अहं का अतिक्रमण करता बल्कि अपने को अन्य के समान समझने का भाव विकसित करता है जो अद्वैत का ही एक व्यावहारिक सत्य है। वह अपनी प्रक्रिया में मनुष्य को अहिंसा की ओर प्रेरित करता है, जो सत्य का व्यावहारिक रूप है। इसी प्रकार, शुमाकर जब बौद्ध अर्थशास्त्र के बहाने श्रम और उस पर आधारित उपस्करों के विकास का आग्रह करते हैं तो उस के पीछे भी मूल दृष्टि यही है कि श्रम आर्थिक आवश्यकता को पूरा करने के साथ-साथ व्यक्ति की मुक्ति अर्थात् अहं भाव के अतिक्रमण में भी सहायक होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अहं भाव ही उस व्यवस्था का भावात्मक आधार है, जिसे पूँजीवाद कहा जाता है। शुमाकर इसी लिए तो कहते हैं कि हमारे युग की मुख्य समस्या तत्त्वमीमांसात्मक है और इस लिए उस का हल भी वहीं तलाश किया जाना चाहिए। श्रम की भी एक तत्त्वमीमांसा है; उसे समझने पर ही यह समझा जा सकता है कि उस का सम्बन्ध केवल आर्थिक जगत् से नहीं है, वह मनुष्य की एक ऐसी भावात्मक सक्रियता भी है जो उसे आत्मान्वेषण और आत्मानुभूति की ओर ले जाती है। क्या हमारे नीति-निर्माता इसे समझेंगे ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीजी का उत्तराधिकार

महात्मा गाँधी के आलोचक ही नहीं, उन के अधिकांश प्रशंसक भी इस बात से बहुत व्यथित दिखायी देते हैं कि गाँधीजी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी क्यों घोषित कर दिया। उन का ख़याल है कि यदि जवाहरलाल नेहरू के बजाय सरदार पटेल को गाँधी ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया होता तो भारत के लिए अधिक बेहतर होता। कुछ लोगों का तो यह भी ख़याल है—और अच्छे-ख़ासे विद्वानों का भी—कि कांग्रेस का बहुमत तो सरदार पटेल को प्रधानमन्त्री बनाने के पक्ष में था, लेकिन गाँधीजी के दबाव के कारण उन्हें जवाहरलाल नेहरू को स्वीकार करना पड़ा।

सब से पहले तो यह स्पष्ट कर दिया जाना ज़रूरी है कि महात्मा गाँधी के लिए *उत्तराधिकारी* का आशय क्या था। क्या वह अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी तलाश कर रहे थे? क्या वह भारत को अपनी सम्पत्ति समझते थे, जिसे उत्तराधिकार में पण्डित नेहरू को सौंप जाना चाहते थे? क्या यह वक्तव्य देते समय वह अपने को भारत के प्रधानमन्त्री पद पर देख रहे थे, जिस का उत्तराधिकारी वह जवाहरलाल नेहरू को घोषित कर रहे थे? ऐसा समझना निश्चय ही गाँधीजी के साथ बड़ा अन्याय होगा। महात्मा गाँधी के बारे में कोई सोचता भी नहीं था कि आज़ादी मिलने के बाद वह प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति जैसे किसी पद पर आसीन होंगे। उन्हें राजनीतिक सत्ता के बरक्स एक स्वायत्त नैतिक सत्ता के रूप में ही देखा-समझा जा सकता था और जब वह नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर रहे थे निश्चय ही उन का आशय इस नैतिक सत्ता से ही रहा होगा। नैतिक सत्ता का उत्तराधिकारी वही व्यक्ति हो सकता था जो गाँधीजी की तरह ही इस देश के सभी वर्गों के बहुसंख्यक लोगों के दिलों पर राज करता हो। जवाहरलाल नेहरू ही ऐसे व्यक्ति थे, जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीजी के बाद कांग्रेस के नेताओं में सर्वाधिक लोकप्रिय थे और गाँधीजी की ही तरह जिन का गहरा भावात्मक असर लोगों पर पड़ता था। इसी बात को पहचानते हुए गाँधीजी ने स्पष्ट वैचारिक मतभेदों के बावजूद जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने वाला गाँधीजी का वक्तव्य उन्नीस सौ बयालीस में उस समय दिया गया था, जब महात्मा गाँधी ने औपचारिक तौर पर कांग्रेस का नेतृत्व छोड़ने का फ़ैसला किया था। इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव कांग्रेस महासमिति की वर्धा बैठक में रखा गया था। हवा में अफ़वाहें थीं कि कांग्रेस के नेताओं और महात्मा गाँधी, विशेष तौर पर नेहरू और उन के बीच गहरी खाई बन चुकी है। इस वक्तव्य का फौरी उद्देश्य जहाँ इन अफ़वाहों पर विराम लगाना था, वहीं दूरगामी दृष्टि से जवाहरलाल नेहरू से कुछ अपेक्षाएँ प्रकट करना भी था—साथ ही साथ इस में नेहरू की राजनीतिक हैसियत का स्वीकार भी था।

वक्तव्य का सम्बन्धित अंश इस प्रकार है : *किसी ने कहा कि पण्डित जवाहरलाल और मैं विलग हो गये हैं। यह आधारहीन है। जवाहरलाल तभी से मेरा विरोध करते आ रहे हैं जब से वे मेरे जाल में फँसे। आप लाठी से वार कर के पानी को बाँट नहीं सकते। हमें विलग करना उतना ही मुश्किल है। मैंने हमेशा कहा है कि राजाजी नहीं, सरदार पटेल नहीं बल्कि जवाहरलाल ही मेरे उत्तराधिकारी होंगे। उन के मन में जो बात आती है वे कह देते हैं, लेकिन वे सदैव करते वही हैं जो मैं चाहता हूँ। जब मैं चला जाऊँगा तो वे वही करेंगे जो मैं अभी कर रहा हूँ। तब वे मेरी ही भाषा बोलेंगे। अन्ततः उन्हें मेरी भाषा बोलनी पड़ेगी। यदि ऐसा नहीं भी होता है, तो भी मैं कम-से-कम इसी विश्वास के साथ मरना चाहता हूँ।*

इस से स्पष्ट है कि यह उत्तराधिकार किसी पद या प्रतिष्ठा का नहीं बल्कि भारतीय समाज के प्रति उन कर्तव्यों का उत्तराधिकार था जिन्हें गाँधीजी निभा रहे थे और चाहते थे कि जवाहरलाल भी उन्हें उसी तरह निभाते रहेंगे। जवाहरलाल नेहरू ने उन कर्तव्यों को ठीक तरह से निभाया या नहीं, इसे ले कर बहस हो सकती है। मेरी अपनी राय में जवाहरलाल नेहरू इस दायित्व को निभाने में गाँधीजी से भिन्न दिशा में ही गये। स्वयं उन्होंने नवम्बर, 1963 में लोकसभा में दिये गये अपने एक वक्तव्य में यह स्वीकार किया था कि गाँधीजी के रास्ते को छोड़ना एक भूल थी। लेकिन यह एक अलग बहस की बात है। फ़िलहाल यह स्पष्ट समझ लेना ज़रूरी है कि गाँधीजी जिस उत्तराधिकार की बात कर रहे हैं, वह प्रधानमन्त्री पद का उत्तराधिकार नहीं है। वह केवल एक नैतिक दायित्व का उत्तराधिकार है, जिसे पूरा करना, न करना अथवा किसी अन्य तरीके से पूरा करना अन्ततः उत्तराधिकारी की मानसिक बनावट पर निर्भर करता है। इस लिए इस वक्तव्य को गाँधीजी द्वारा जवाहरलाल नेहरू को भारत पर थोप दिये जाने के अर्थ में लेना न केवल गाँधीजी के साथ अन्याय होगा बल्कि स्वयं नेहरू और कांग्रेस के अन्य नेताओं को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीजी की कठपुतलियाँ मान लेना होगा और ऐसा करना न केवल उन के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ बल्कि फिर स्वयं गाँधीजी के साथ भी अन्याय होगा। गाँधीजी का प्रशिक्षण लोगों को स्वतन्त्र करता था और इसी कारण कुमारप्पा जैसे उन के अनुयायी स्वयं गाँधीजी से मिलने से भी इस लिए इनकार कर सकते थे कि उन्होंने इस के लिए उन से पहले समय नहीं लिया है। समय-समय पर कांग्रेस के नेता—राजाजी, सरदार पटेल, मौलाना आज़ाद, राजेन्द्र बाबू आदि भी—गाँधीजी से असहमति प्रकट करते रहते थे। आख़िर भारत विभाजन तक का प्रस्ताव उन्होंने गाँधीजी की सहमति पाये बिना ही स्वीकार कर लिया था। इस लिए वे जवाहरलाल नेहरू को सिर्फ़ गाँधीजी के कारण प्रधानमन्त्रित्व सौंप देंगे, यह मान लेना संगत नहीं लगता और न यह संगत लगता है कि उन्हें मनवाने के लिए गाँधीजी उन पर कोई अस्वाभाविक दबाव डालते। फिर जिस समय यह वक्तव्य दिया गया, उस समय तो भारत छोड़ो आन्दोलन भी नहीं हुआ था और न ही भारत के प्रधानमन्त्रित्व के बारे में कोई मन्त्रणा हो रही थी।

अधिकांश लोग इस बात को भी भूल जाते हैं कि जिस समय जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण दिया गया, उस समय वह कांग्रेस के अध्यक्ष थे और इसी हैसियत से उन्हें निमन्त्रण मिला था। कांग्रेस अध्यक्ष होने के नाते उन्हें स्वयं कांग्रेस कार्यसमिति ने अन्तरिम सरकार बनाने का निमन्त्रण स्वीकार कर लेने का निर्देश दिया था। कांग्रेस कार्यसमिति की इस बैठक को गाँधीजी ने सरदार पटेल के बजाय जवाहरलाल नेहरू के पक्ष में प्रभावित करने का किसी तरह का कोई प्रयत्न किया था, इस का कोई ज़िक्र प्राप्त नहीं होता। इस लिए यह मान लेना उचित नहीं लगता कि कांग्रेस के न चाहते हुए भी गाँधीजी ने जवाहरलाल नेहरू को प्रधानमन्त्री बनवा दिया। कांग्रेस अध्यक्ष होने के नाते जवाहरलाल को ही सरकार बनाने का निमन्त्रण मिलना स्वाभाविक था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इतिहास की अधिकांश अधकचरी पुस्तकों और ऑफिशियल वेबसाइट में भी मौलाना आज़ाद के बाद सीधे आचार्य कृपलानी को ही कांग्रेस अध्यक्ष बताया गया है। यदि मौलाना आज़ाद के विवरण को स्वीकार किया जाय तो यह भी मानना होगा कि गाँधीजी भी इस समय सरदार पटेल को कांग्रेस अध्यक्ष चाहते थे, लेकिन आज़ाद ने अपनी ओर से सार्वजनिक रूप से नेहरू का नाम प्रस्तावित कर दिया था, अतः उन्होंने सार्वजनिक तौर पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। स्वयं मौलाना आज़ाद ने भी बाद में अपने इस प्रस्ताव पर पश्चात्ताप प्रकट करते हुए लिखा है कि शायद उस परिस्थिति में सरदार पटेल नेहरू से अधिक उपयुक्त अध्यक्ष होते—यद्यपि उन के अनुसार भारत विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने वाले प्रथम कांग्रेस नेता भी सरदार पटेल ही थे। इस लिए गाँधीजी के प्रशंसकों और आलोचकों, दोनों को उन्हें इस आरोप से तो मुक्त कर ही देना चाहिए कि उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को भारत पर थोप दिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

महात्मा गाँधी का अकेलापन

मैं अकेलापन चुनता नहीं, स्वीकार करता हूँ—महात्मा गाँधी के जीवन के अन्तिम दिनों के बारे में जब भी सोचता हूँ तो अज्ञेय की यह टीप स्मरण हो आती है। जब से यह स्पष्ट हो गया था कि आज़ादी मिलना तय है, लगभग तभी से कांग्रेस का तत्कालीन स्थापित नेतृत्व महात्मा गाँधी की अवहेलना करने लगा था। इस अवहेलना का एहसास स्वयं गाँधीजी को भी होने लगा था और इसी वजह से अकेले पड़ जाने के अवसाद का एहसास भी। गाँधी इस अकेले छोड़ दिये जाने को एक महानायक की गरिमा के साथ स्वीकार कर रहे थे—इस का प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि ख़ुद के अकेले होते चले जाने के बावजूद महान् संकट की उन घड़ियों में उन्होंने अपने उन पुराने साथियों को परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए अकेले नहीं छोड़ा जो उन्हें लगभग छोड़ चुके थे।

मुझे लगता है कि यों तो यह एहसास गाँधीजी को *भारत छोड़ो* आन्दोलन की तैयारी के शुरुआती दिनों से ही होने लगा होगा। अक्सर इस तथ्य की अनदेखी कर दी जाती है कि कांग्रेस नेतृत्व ने भारत छोड़ो आन्दोलन के गाँधीजी के प्रारम्भिक प्रस्ताव को ख़ारिज कर दिया था। यह प्रस्ताव मीराबेन के माध्यम से अप्रैल, बयालीस में इलाहाबाद कांग्रेस में भेजा गया था और पण्डित नेहरू आदि नेताओं का मूड भाँपते हुए गाँधीजी ने पण्डित नेहरू को अपने पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि उन्हें यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं होने का अर्थ यह है कि अब उन दोनों के लिए अपने अलग रास्ते चुनने का समय आ गया है। जुलाई, बयालीस में जब गाँधीजी के प्रस्ताव पर कांग्रेस कार्यसमिति में दुबारा विचार किया गया तब भी मौलाना आज़ाद और पण्डित नेहरू जैसे नेता अंग्रेजों के तत्काल भारत छोड़ जाने के प्रस्ताव से सहमत नहीं थे। लेकिन गाँधीजी का स्पष्ट कहना था कि यदि वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
आन्दोलन के लिए सहमत नहीं हैं तो मौलाना को कांग्रेस की अध्यक्षता तथा पण्डित नेहरू को कार्यसमिति से अलग हो जाना चाहिए। सम्भवतः, इसी दबाव के कारण भारत छोड़ो का प्रस्ताव कार्यसमिति में पारित हो सका। यद्यपि राजगोपालाचारी जैसे नेता तब भी प्रस्ताव के विरोधी रहे और उन्होंने भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना स्वीकार नहीं किया। शायद यह भी एक वजह थी जिस के चलते राजाजी को भारत गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति बनाये जाने का विरोध कई कांग्रेसजन द्वारा किया गया।

लेकिन ऐसा लगता है कि जो विश्वास इस दौर में गाँधीजी में दिखायी पड़ता है, वह बाद में धीरे-धीरे कम होता चला जाता है और कांग्रेस का नेतृत्व युद्धोत्तर काल में गाँधीजी के आग्रहों की अनदेखी करने लग जाता है—बल्कि गाँधीजी भी जैसे धीरे-धीरे इस अनदेखी को स्वीकार करने लग जाते हैं। इस का पहला प्रमाण सितम्बर, छियालीस में मिलता है, जब सरदार पटेल और पण्डित नेहरू जैसे गाँधीजी के अनुयायी जेपी या आचार्य नरेन्द्रदेव को कांग्रेस अध्यक्ष बनाने के गाँधीजी के प्रस्ताव को पूरी तरह ख़ारिज कर देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के लोग भारत-विभाजन के घोर विरोधी थे और यदि संकट की उन घड़ियों में कांग्रेस का नेतृत्व जेपी या आचार्य नरेन्द्रदेव के पास होता तो विभाजन के विरोध में गाँधीजी के विचारों को बल मिल सकता था। लेकिन ऐसा लगता है कि—चाहे अनिच्छापूर्वक ही सही—कांग्रेस का स्थापित नेतृत्व अब महात्मा गाँधी के विचारों से अपने को असहमत पाने लगा था और उन्हें अकेले छोड़ देने में उसे कोई उज्र नहीं था।

इस का और ज्वलन्त प्रमाण मार्च, सैंतालीस में मिल जाता है, जब गाँधीजी को बिहार में साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए अपनी सक्रियता के बीच अचानक एक दिन अख़बारों से पता चलता है कि कांग्रेस ने पंजाब के विभाजन का प्रस्ताव किया है। इस का सीधा तात्पर्य यह था कि कांग्रेस भारत-विभाजन के प्रस्ताव से सहमत हो रही है। यह त्रासद आश्चर्य है कि इतना बड़ा प्रस्ताव करने से पहले गाँधीजी से कोई सलाह-मशविरा तो दूर, उन्हें सूचना तक नहीं दी गयी थी। प्यारेलाल ने *पूर्णाहुति* में लिखा है कि *उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानो उन के पैरों-तले अचानक ज़मीन फट गई हो।* उन्हें पत्र लिख कर पण्डित नेहरू और सरदार पटेल से पूछना पड़ा कि कांग्रेस के इस प्रस्ताव की पृष्ठभूमि और तात्पर्य क्या है। सरदार पटेल का उत्तर गाँधीजी को अकेले छोड़ देने की जैसे घोषणा ही कर देता है जब वह लिखते हैं कि *पंजाब सम्बन्धी प्रस्ताव आप को समझाना कठिन है। वह अत्यन्त गहरे विचार-विमर्श के बाद पास किया गया था। जल्दबाज़ी में अथवा पूरे विचार के बिना कुछ भी नहीं किया गया है। हमें तो अख़बारों से ही मालूम हुआ कि आपने उस के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किये हैं। पर आप को जो ठीक लगे उसे कहने का अधिकार तो आप को है ही।*

पण्डित नेहरू ने कुछ भिन्न तरीक़े से ऐसी ही बात कही। उन्होंने लिखा कि *पंजाब के विभाजन के बारे में हमारे प्रस्ताव की बात यह है कि वह हमारे पिछले निर्णयों का*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वाभाविक परिणाम है। पहले वे नकारात्मक हुआ करते थे, मगर अब ठोस निर्णय का समय आ गया है। और हमारे विचार प्रकट करने वाले प्रस्तावों को केवल पास कर देने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। मेरा पक्का विश्वास है, और कार्यसमिति के अधिकांश सदस्यों का भी है, कि हमें तुरन्त इस विभाजन पर ज़ोर देना चाहिए, ताकि वास्तविकता सामने आ जाय। स्पष्ट है कि अब कांग्रेस का स्थापित नेतृत्व महात्मा गाँधी के दिशा-निर्देश में चलना तो क्या, उन से सलाह करने की ज़रूरत भी नहीं समझता था। हाँ, ज़रूरत पड़ने पर उन का पहले जैसा ही समर्थन वह अवश्य चाहता रहता था।

क्या कोई अनुमान लगा सकता है कि इस दौर में एक व्यक्ति के रूप में गाँधीजी को कैसा लग रहा होगा जब उन्हें यह महसूस हो रहा होगा कि उन के विश्वस्त साथी अब उन के विचारों की तो परवाह नहीं ही करते—बल्कि उन के व्यक्तित्व के प्रति भी उन में औपचारिक आदर ही बचा है। विभाजन को लेकर गाँधीजी का विरोध बिल्कुल स्पष्ट था—पण्डित नेहरू और सरदार पटेल चाहते थे कि अपनी असहमति के बावजूद गाँधीजी कार्यसमिति और महासमिति में उन का समर्थन करें। प्यारेलाल महात्मा गाँधी के शब्दों को हमारे सम्मुख रख देते हैं : *आज मैं बिल्कुल अकेला पड़ गया हूँ। सरदार और जवाहरलाल तक का सोचना है कि परिस्थिति की मेरी समझ ग़लत है और विभाजन होने पर ही शान्ति स्थापित हो सकेगी।.... हो सकता है वे सब सही हों और मैं अकेला ही अँधेरे में भटक रहा हूँ.... लेकिन आज हर कोई भारत की आजादी के लिए अधीर है। इस लिए और कोई चारा नहीं है।* फिर भी गाँधीजी का कहना था वह विभाजन का कतई समर्थन नहीं कर सकते।

गाँधीजी की उद्विग्नता का कोई पार नहीं था क्यों कि एक ओर वह विभाजन से सहमत नहीं हो पा रहे थे तो दूसरी ओर इस नाज़ुक मौक़े पर वह कांग्रेस में भी कोई फूट नहीं चाहते थे, क्यों कि इस का सीधा लाभ ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग को मिलता। लेकिन उन के प्रति सरदार पटेल जैसे नेताओं का तरीक़ा कैसा हो गया था, इस की एक झलक प्रसिद्ध गाँधीवादी आरआर दिवाकर के कथन में मिल सकती है। दिवाकर के अनुसार सरदार पटेल ने उन के पास जाकर कहा कि *या तो आप नेतृत्व करें या हमें करने दें। यदि आप को यही करना है तो हमारे इस्तीफ़े ले लीजिये, फिर जैसा चाहें कीजिये।* डॉ. लोहिया ने भी लिखा है कि सारी कार्यसमिति विभाजन के पक्ष में थी। केवल जेपी, बादशाह खान और स्वयं लोहिया ने ही विभाजन के प्रस्ताव का थोड़ा-बहुत विरोध किया। कांग्रेस कार्यसमिति की जिस बैठक में विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार किया गया, उस का वर्णन करते हुए बादशाह खान ने एक साक्षात्कार में बताया कि *गाँधी जब भी विभाजन-योजना का विरोध करने के लिए प्रस्तुत होने लगते तो पटेल उन से झगड़ा करने लगते, जिस का मैं स्वयं साक्षी हूँ। बेचारे गाँधी एक शब्द भी नहीं बोल सके। उन की आवाज़ दबा दी गयी।* लोहिया के अनुसार, *जब भी उन्हें लगता कि गाँधीजी उन्हें रोकना चाहते हैं, वे उग्रतापूर्वक चिल्लाने लगते।* लोहिया ने इस के वर्णन में *बार्क्ड वॉयलेंटली* और *ऑफेंसिवली एग्रेसिव* जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अगर इन वर्णनों में कुछ अतिरंजना भी हो—यद्यपि बादशाह खान से तो अतिरंजना की भी अपेक्षा नहीं कर सकते, लोहिया की भाषा में कुछ क्रोध हो भी सकता है—तो भी यह अनुमान तो हो ही जाता है कि अब कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने गाँधीजी से अपने को अलग कर लिया था। उस गाँधी से जिसे वे सब *बापू* कहते ही नहीं, मानते भी रहे थे। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव था कि महात्मा गाँधी विभाजन के विरुद्ध कोई आन्दोलन खड़ा कर पाते? कांग्रेस के नेता अब उन के साथ नहीं रह गये थे। मुस्लिम लीग और आम्बेडकर (जो पाकिस्तान के समर्थक थे) उन के साथ कभी थे ही नहीं। समाजवादियों को उन की अहिंसा में पूरा विश्वास नहीं था। क्या बिना किसी बड़े संगठन के आन्दोलन हो सकता था?

लेकिन अकेलापन शायद गाँधीजी की स्वाभाविक नियति है। सत्य की राह पर चलने वाले अकेले हो जाने को मानो अभिशप्त होते हैं। यह कितना विडम्बनापूर्ण है कि हिन्दुत्ववादी उन से इस लिए नाराज़ थे कि वे दलितों और मुसलमानों की उन्नति और सुरक्षा की बात करते थे। मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग उन से नाराज़ था कि वे पाकिस्तान की अवधारणा के विरोधी थे। और अब दलित उनसे इस लिए नाराज़ हैं कि उन की राय में वे सवर्णवादी हैं। धर्मनिरपेक्षतावादी नाराज़ हैं क्यों कि वह धर्म की भाषा में बात करते हैं। धर्मवादी नाराज़ हैं क्यों कि वह राज्य को धर्मनिरपेक्ष रखना चाहते हैं। दरअस्ल, गाँधी तब भी अकेले थे और आज भी अकेले हैं। ऐसा व्यक्ति सदैव अकेला ही रहेगा जिसे दूसरे केवल अपने लिए इस्तेमाल नहीं कर सकें। वह जिस हद तक हमारे लिए सुविधाजनक है, उस हद तक आदरणीय है—लेकिन जब उस के विचार या व्यक्तित्व हमारे लिए असुविधाजनक होने लगे तब उसे अकेला छोड़ देने में ही सुरक्षा है—यदि मिटाया न जा सके। अकेला छोड़ देना भी प्रकारान्तर से मिटाना ही है। प्रसाद ने कहीं लिखा भी है कि *उपेक्षा घोर शत्रुता है।*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधी-सुभाष के मतभेदों का सच

महात्मा गाँधी के राजनीतिक जीवन की जिन कुछ घटनाओं को ले कर सामान्य लोगों में भारी ग़लतफ़हमी रही है, उन में से एक प्रमुख घटना नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से उन के मतभेद और उन के द्वारा कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में नेताजी से सहयोग न करना है। इसी कारण सुभाष बाबू को कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देना पड़ा था। सामान्य बातचीत में अक्सर यह मत व्यक्त किया जाता है कि गाँधीजी का सुभाष बाबू के प्रति यह रुख़ अन्यायपूर्ण था और उन्हें सुभाष बाबू के साथ सहयोग करना चाहिए था।

सामान्य तौर पर तो यह बात ठीक ही लगती है और ऐसा महसूस होता है कि सम्भवतः व्यक्तित्वों की टकराहट ने गाँधीजी जैसे सत्ता-निरपेक्ष व्यक्ति को भी प्रभावित कर दिया और इसी कारण उन्होंने पट्टाभि सीतारमैया की हार को अपनी हार घोषित किया तथा कांग्रेस कार्यसमिति के गठन में सुभाष बाबू को सहयोग नहीं दिया। इसी का परिणाम यह हुआ कि अन्ततः सुभाष बाबू को कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देना पड़ा, क्यों कि कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया था कि सुभाष बाबू अपनी कार्यसमिति का गठन महात्मा गाँधी की इच्छा के अनुसार करेंगे। लेकिन यदि घटनाओं का तथ्यात्मक विश्लेषण किया जाय तो तस्वीर का दूसरा पहलू उभरता है और ऐसा लगता है कि यह बुनियादी नीतिगत मतभेद था जिस पर सारे सद्प्रयत्नों के बावजूद दोनों नेता एकमत नहीं हो सके।

यह उल्लेखनीय है कि उन्नीस सौ अड़तीस में सुभाष बाबू सर्वसम्मति से कांग्रेस अध्यक्ष चुने गये थे और इस में गाँधीजी का पूरा समर्थन उन्हें प्राप्त था। तब ऐसा क्या हुआ कि एक ही साल में यह आपसी विश्वास नष्ट हो गया और गाँधीजी ने सुभाष बाबू के दुबारा कांग्रेस अध्यक्ष बनने के आग्रह को स्वीकार नहीं किया। वे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri
मौलाना आज़ाद को कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में प्रस्तावित कर रहे थे। लेकिन जब सुभाष बाबू ने फिर भी चुनाव लड़ने की मंशा प्रकट की तो मौलाना ने अपने को चुनाव से अलग कर लिया और ऐसी स्थिति में गाँधीजी के समर्थन से चुनाव लड़ने के बावजूद पट्टाभि सीतारमैया चुनाव हार गये। गाँधीजी ने पट्टाभि की पराजय को अपनी पराजय बताया और इसी के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध पन्त प्रस्ताव कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में पारित किया गया जिस में कांग्रेस द्वारा महात्मा गाँधी के नेतृत्व एवं नीतियों में पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए सुभाष बाबू से कहा गया कि वह अपनी कार्यसमिति का गठन गाँधीजी की राय के अनुसार करेंगे। लेकिन गाँधीजी ने इस प्रस्ताव को पसन्द नहीं किया। उन का कहना था कि सुभाष बाबू इस प्रस्ताव को अनुचित मानते हैं और केवल राजनीतिक कारणों से इसे मानने को बाध्य महसूस कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में कार्यसमिति के गठन में उन का हस्तक्षेप अनैतिक और हिंसात्मक होगा। वह नहीं चाहते कि उन के कारण सुभाष बाबू आत्मदमन करने के लिए विवश हों। उन्होंने सुभाष बाबू को यही सलाह दी कि वह अपनी नीतियों के अनुसार कार्यसमिति का गठन करें और अपना कार्यक्रम कांग्रेस के समक्ष रखें। यदि कांग्रेस उस कार्यक्रम और उन की कार्यसमिति को स्वीकार कर लेती है तो वह उस के मुताबिक कांग्रेस को चला सकते हैं और यदि कांग्रेस उन के प्रस्तावों को अस्वीकार कर देती है तो उन्हें अध्यक्ष पद से अलग हो जाना चाहिए। सुभाष बाबू यह भलीभाँति जानते थे कि कांग्रेस उन की नीतियों और कार्यक्रम को गाँधीजी के समर्थन के बिना स्वीकार नहीं करेगी। लेकिन, दूसरी तरफ़ वह अपने को किसी नीतिगत परिवर्तन के लिए सहमत नहीं पा रहे थे। इस लिए उन्होंने त्यागपत्र देना ही बेहतर समझा क्यों कि अध्यक्ष का चुनाव जीत जाने के बावजूद वह कांग्रेस को अपने रास्ते पर नहीं ले जा सकते थे। अध्यक्ष का चुनाव तो वह सिर्फ़ इस लिए जीत पाये कि पट्टाभि का व्यक्तित्व उन के सामने बहुत छोटा था। लेकिन इस के बावजूद कांग्रेस गाँधीजी की नीतियों को छोड़ कर उन के रास्ते पर चलने के लिए तैयार नहीं थी।

यह नहीं मानना चाहिए कि सुभाष बाबू को कांग्रेस अध्यक्ष के पद से कोई मोह था। कोई भी पद उन के महान् व्यक्तित्व से बहुत छोटा पड़ता था। लेकिन उन्होंने दुबारा अध्यक्ष इसी लिए बनना चाहा कि वे कांग्रेस को उन लोगों से मुक्त करवा सकें जिन्हें वे *ओल्ड गार्ड्स* और गाँधीवादी कहते थे—और इन *ओल्ड गार्ड्स* में मौलाना आज़ाद, सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू, राजगोपालाचारी और कुछ अंशों में जवाहरलाल नेहरू भी सम्मिलित थे क्यों कि वे भी मोटे तौर पर गाँधीजी के तरीक़ों से सहमत थे—तथा इस के बाद वह कांग्रेस और आज़ादी के संघर्ष को अपने दृष्टिकोण के अनुसार संचालित कर सकें।

उन की इस इच्छा में कुछ भी अनैतिक नहीं था। गाँधीजी की नीतियों से उन का मतभेद जगज़ाहिर था—यद्यपि तब भी वह गाँधीजी को *महानतम भारतीय* कहते थे। लेकिन यदि वह अपनी विचारधारा और कार्यक्रम के अनुसार कांग्रेस और आज़ादी के संघर्ष को संचालित करना चाहते थे तो ऐसा चाहने का उन्हें पूरा अधिकार था। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्या तब गाँधीजी एवं अन्य कांग्रेसजन को भी यह अधिकार नहीं था कि वे सुभाष बाबू के कार्यक्रम से असहमति रख सकें और कांग्रेस को अपने रास्ते ले जाने के सुभाष बाबू के प्रयासों का विरोध कर सकें? मुद्दा सुभाष बाबू के अध्यक्ष पद पर रहने-न रहने तक सीमित नहीं था। सुभाष बाबू चाहते थे कि सरकार को छह महीने का अल्टीमेटम देकर सीधा संघर्ष शुरू कर दिया जाना चाहिए, जब कि गाँधीजी और कांग्रेस के अन्य सभी प्रमुख नेता उन की इस योजना से सहमत नहीं थे और कोई भी संघर्ष शुरू करने से पहले उस के लिए जनता को तैयार करना और उपयुक्त वातावरण बनाना आवश्यक समझते थे।

यह उल्लेखनीय है कि इन बातों को ले कर गाँधीजी और सुभाष बाबू के बीच काफ़ी बातचीत और लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ था, लेकिन दोनों के बीच बुनियादी मतभेद बराबर बने रहे थे। सुभाष बाबू का कहना था कि यदि कांग्रेस व गाँधीजी उन की योजना को स्वीकार कर लेते हैं, तो वह स्वेच्छा से अध्यक्ष पद छोड़ सकते हैं। उन के लिए सिद्धान्त एवं नीतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। लेकिन यही बात दूसरी ओर भी थी। उन के सिद्धान्तों एवं नीतियों को स्वीकार करना गाँधीजी के लिए भी मुमकिन नहीं था। इस बुनियादी मतभेद के रहते सुभाष बाबू की अध्यक्षता में गाँधीजी का कार्यसमिति के गठन में अपनी इच्छा थोपना न नैतिक दृष्टि से उचित था, न ही राजनीतिक दृष्टि से।

गाँधीजी के साथ हुए पत्र-व्यवहार में सुभाष बाबू ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि यदि कार्यसमिति के गठन में उन के प्रस्तावों को शामिल नहीं किया जाता है तो दोनों के रास्ते अलग हो जाने अवश्यम्भावी हैं। इन पत्रों से यह ध्वनि भी निकलती है कि यदि उन के अपने प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया जाता है तो कांग्रेस में गृहयुद्ध की-सी स्थिति पैदा हो सकती है। गाँधीजी का अहिंसक मन इस प्रकार के दबाव को स्वीकार नहीं कर सकता था। यदि वह ऐसी स्थिति में कार्यसमिति का गठन करते तो यह उन के मनोनुकूल न होता—जैसा कि पन्त प्रस्ताव में कहा गया था जब कि, उस का सार्वजनिक सन्देश यही होता कि कार्यसमिति गाँधीजी की इच्छा के अनुसार गठित की गयी है। सुभाष बाबू को हिंसक उपायों को अपनाने में भी कोई हिचक नहीं थी, जैसा कि बाद में प्रकट भी हुआ। लेकिन गाँधीजी और कांग्रेस की घोषित नीति की इस से सहमति नहीं हो सकती थी।

यह भी उल्लेखनीय है कि अपने एक साल के अध्यक्षीय कार्यकाल के दौरान सुभाष बाबू ने कलकत्ता स्थित जर्मन कांसुलेट के माध्यम से हिटलर से सम्पर्क साधने तथा आज़ादी की लड़ाई में उस का समर्थन हासिल करने का प्रयत्न भी किया था, जिस की कोई जानकारी उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति अथवा गाँधीजी को नहीं दी थी। लेकिन यह जानकारी ब्रिटिश सरकार को थी और के.एम. मुंशी के माध्यम से गाँधीजी को भी। उन्नीस सौ पैंतीस में वे हिटलर से मिले भी थे और उन का विश्वास था कि भारतीय विद्रोह की स्थिति में उन्हें जर्मनी का पूरा समर्थन मिलेगा। कुछ इतिहासकारों ने इन बातों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया है, लेकिन आने वाली घटनाएँ इस सन्देह का समर्थन नहीं करतीं।

एक देशभक्त के नाते सुभाष बाबू को यह अधिकार था कि वह अपनी नीति पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चलते, लेकिन यही अधिकार गाँधीजी एवं सुभाष बाबू से असहमत कांग्रेस के सरदार पटेल, मौलाना आज़ाद और राजेन्द्र बाबू जैसे नेताओं को भी था। यदि सुभाष बाबू का गाँधीजी से सहमत होना आवश्यक नहीं था, तो गाँधीजी के लिए यह क्यों आवश्यक समझा जाय कि असहमत होने के बावजूद उन्हें सुभाष बाबू की नीतियों से सहयोग करना चाहिए था ? क्या यही माँग स्वयं सुभाष बाबू से नहीं की जानी चाहिए—ख़ासतौर पर तब जब कि कांग्रेस गाँधीजी के नेतृत्व को स्वीकार कर रही थी और सुभाष बाबू के अलग हो जाने पर भी कांग्रेस से उन के समर्थन में बाहर आने वालों की संख्या नगण्य ही थी—बंगाल तक में ?

लेकिन इस सारे प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि तमाम नीतिगत मतभेदों और कहीं-कहीं कांग्रेस के अन्य कुछ नेताओं के प्रति नकारात्मक टिप्पणियों के बावजूद महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व के प्रति सुभाष बाबू के आदर में कोई कमी नहीं आयी और वह इस बात के लिए दुख भी प्रकट करते हैं कि वह भारत के *महानतम व्यक्ति* का विश्वास नहीं अर्जित कर सके। इसी तरह सारे विरोध के चलते हुए भी महात्मा गाँधी सुभाष बाबू की बहादुरी और देशभक्ति के गहरे प्रशंसक बने रहे। जहाँ नेताजी ने आज़ाद हिन्द फ़ौज के दस्तों का नाम गाँधी, नेहरू और आज़ाद के नाम पर रखा, वहीं एक अवसर पर जयप्रकाश नारायण के बारे में टिप्पणी करते हुए गाँधीजी ने कहा कि बहादुरी और देशभक्ति में वह सुभाष बाबू और जवाहरलाल के समान हैं, और उन्हीं की तरह कुछ अधीर भी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अम्बेडकर ऐकान्तिक थे और गाँधी समावेशी

मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाने की अदम्य कामना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निष्ठापूर्वक कष्ट सहना सभी महापुरुषों के जीवन की एक सामान्य विशेषता कही जा सकती है। इस दृष्टि से उन के जीवनचरित का स्मरण भी सार्थक होता है क्यों कि उस से हमें सत्कार्यों के लिए निष्ठा और कष्ट सहने की प्रेरणा भी मिलती है। लेकिन इतिहास का काम इतने मात्र से नहीं चलता क्यों कि उसे प्रत्येक महापुरुष के चिन्तन और कर्म की विधि और उस के तात्कालिक और दूरगामी प्रभावों को भी परखना होता है और इस विधि के औचित्य के आधार पर ही वर्तमान में किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व की प्रासंगिकता पर भी विचार किया जा सकता है। पिछले कुछ अरसे से डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर के व्यक्तित्व और विचारों को ले कर हमारे राजनीतिक गुटों में ही नहीं, बौद्धिक जगत् में भी काफ़ी उत्साह है और कभी-कभी तो महात्मा गाँधी से उन की तुलना ही नहीं की जाती बल्कि उन के विचारों और पद्धति को गाँधीजी के विचारों और तरीक़ों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक कहा जाने लगा है। लोकप्रियतावादी राजनीति कुछ नारों के अविचारित दुहराव पर टिकी होती है, इस लिए उस से किसी बौद्धिक संयम की अपेक्षा रखना तो दुराशा मात्र ही है। लेकिन बौद्धिक जगत् भी जब लोकप्रियतावादी राजनीति के प्रभाव क्षेत्र में आने लग जाय तो कुछ तथ्यों का पुनरावलोकन और दोनों व्यक्तित्वों के चिन्तन और कर्म की पद्धतियों के फ़र्क़ को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

गाँधीजी और अम्बेडकर के बीच यदि कोई समानता है तो बस इतनी कि दलित वर्ग के उत्थान को ले कर दोनों की चिन्ता समान रूप से तीव्र है। अम्बेडकर यदि इस विषय में कुछ अधिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

आग्रही और गाँधीजी कुछ संयमित लगते हैं तो इस लिए नहीं कि दलितों के प्रति गाँधीजी अम्बेडकर से कुछ कम सहानुभूति रखते हैं, बल्कि यह फ़र्क़ इस लिए है कि अम्बेडकर का केन्द्रीय सरोकार केवल दलितों से है, जब कि गाँधीजी का पूरे समाज से। इसी लिए गाँधीजी हमारे समाज की सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक समस्याओं से जूझते नज़र आते हैं जब कि अम्बेडकर का ध्यान केवल एक लक्ष्य पर है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में भी वे बहुत संकीर्ण दृष्टि अपनाते दिखायी देते हैं।

वास्तव में गाँधीजी और अम्बेडकर के फ़र्क़ को यदि एक- सूत्र में समझना हो तो कहा जा सकता है कि गाँधीजी की दृष्टि समावेशी (इनक्लूजिव) है जब कि अम्बेडकर की ऐकान्तिक या एक्सक्लूजिव। अम्बेडकर की पद्धति ही यह है कि वे दूसरों से कट कर ही अपने हितों की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ने की कोशिश करते हैं। इसी पद्धति के कारण वे मुसलमानों और हिन्दुओं के राजनीतिक दृष्टि से अलग हो जाने में ही हिन्दुओं का कल्याण देखते थे। अपनी पुस्तक *थाट्स ऑन पाकिस्तान* में अम्बेडकर पाकिस्तान की स्थापना का समर्थन इस लिए करते हैं कि इस्लाम एक कट्टर धर्म है और मुसलमानों ने हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किये हैं, इस लिए दोनों के राज्य अलग हो जाने चाहिए ताकि हिन्दू सुखपूर्वक रह सकें। अम्बेडकर भारत-पाकिस्तान में जनसंख्या परिवर्तन के विचार को मान्यता देते हैं, जिस का अर्थ है भारत का एक साम्प्रदायिक राष्ट्र में बदल जाना।

अम्बेडकर की यही पृथक्तावादी चिन्तन-पद्धति सवर्ण-दलित सम्बन्धों की उन की व्याख्या और रणनीति का निर्धारण भी करती है। जिस तर्क प्रणाली के आधार पर वह हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक् करते हैं, उसी के आधार पर सवर्ण और दलित को भी और इस लिए उन के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे दलितों के लिए पृथक् निर्वाचन मण्डल की माँग करते और अन्ततः हिन्दू धर्म से अलग होने में ही समाधान खोजते।

लेकिन गाँधीजी की समावेशी दृष्टि जिस तरह मुसलमानों को भारत से अलग नहीं मानती थी, उसी तरह दलितों को भी हिन्दू समाज से पृथक् नहीं मान सकती थी। यही कारण रहा कि जहाँ साम्प्रदायिक एकता के लिए गाँधीजी ने बार-बार अपने प्राणों को संकट में डाला, उसी प्रकार 1932 में मैकडोनल्ड के कम्युनल अवार्ड के समय हरिजनों को हिन्दू समाज से पृथक् करने के षड्यन्त्र को विफल करने के लिए भी उन्होंने अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया। अम्बेडकर दलितों के लिए क़ानूनी सुरक्षा के पक्षधर थे, जब कि गाँधीजी केवल क़ानून को पर्याप्त नहीं मानते थे। गाँधीजी के प्रभाव में 1921 में ही कांग्रेस यह प्रस्ताव पारित कर चुकी थी कि वह अस्पृश्यता को हटाने के लिए प्रतिबद्ध है और जब भी वह सत्ता में आयेगी, इस कलंक को क़ानूनी तौर पर मिटा दिया जायेगा। लेकिन गाँधीजी इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। वह सवर्ण समाज की उस अन्तरात्मा को जगाना चाहते थे, जिस के जड़ हो जाने से किसी समाज में ऐसी अमानवीयता पनपने लगती है। जब बिहार के भयंकर भूकम्प को उन्होंने हिन्दू समाज के अस्पृश्यता के पाप का परिणाम कहा तो वैज्ञानिकतावादियों ने चाहे इस वक्तव्य का कितना ही विरोध किया हो,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर इस से अस्पृश्यता को ले कर गाँधीजी के मन की पीड़ा की तीव्रता का तो अनुमान हो ही जाता है। केवल क़ानूनी भाषा जहाँ अन्ततः वर्गीय ऐकान्तिकता और संघर्ष का कारण बनती, वहीं गाँधीजी द्वारा सवर्ण समाज में अस्पृश्यता के पाप के लिए प्रायश्चित्त का भाव पैदा करने से दलितों के अधिकारों को क़ानूनी ही नहीं, भावात्मक और नैतिक स्वीकृति भी मिलती; साथ ही, सवर्ण समाज के नैतिक उत्थान का भी यह एक अभूतपूर्व प्रयत्न होता जो हमारे राष्ट्रीय चरित्र के विकास में भी अत्यन्त सहायक होता।

गाँधीजी के प्रयत्नों का कुछ सुफल मिलना शुरू हुआ भी था और न केवल कई मन्दिर-तालाब आदि सार्वजनिक स्थान अछूतों के लिए खोल दिये गये थे, बल्कि जब मुम्बई के सात मन्दिरों में आने वाले सवर्ण भक्तों से हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के सवाल पर जनमत संग्रह करवाया गया तो 24797 लोगों ने हरिजनों के पक्ष में मतदान किया, जब कि विरोध करने वालों की संख्या केवल 445 थी। आवश्यकता इस बात की थी कि डॉ. अम्बेडकर गाँधीजी के तरीक़ों को अपना पूरा समर्थन देते, लेकिन यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि उन का विश्वास गाँधीजी से ज़्यादा उस ब्रिटिश सरकार में था, जो उन्हें अपनी राजनीति के एक मोहरे की तरह इस्तेमाल कर रही थी। गुरुवेयूर के प्रतिष्ठित मन्दिर को हरिजनों के लिए खोलने को ले कर हुई रायशुमारी ने बहुमत से प्रस्ताव का समर्थन किया था, लेकिन जिस ब्रिटिश सरकार से अम्बेडकर को बहुत आशा थी, उसी ने मन्दिर के प्रबन्धकों को क़ानूनी संरक्षण प्रदान किया और भविष्य में कभी पूरे देश के लिए एक जैसा क़ानून बनाने का विचार प्रकट कर मसले को टालने में प्रबन्धकों की मदद की; जब कि जिस राष्ट्रीय आन्दोलन पर अम्बेडकर को रत्तीभर विश्वास नहीं था उसी ने ब्रिटिश शासन के बावजूद अपनी सरकारों वाले प्रान्तों में और बाद में आज़ादी मिलने के अवसर पर पूरे देश में अस्पृश्यता को क़ानूनी तौर पर मिटाया। यह स्मरणीय है कि अम्बेडकर को संविधान-प्रारूप समिति का सदस्य बनाये जाने से पूर्व अप्रैल 1947 में ही संविधान सभा अस्पृश्यता को क़ानूनी तौर पर मिटाने की घोषणा कर चुकी थी, जब कि स्वयं अम्बेडकर इस दौर में लन्दन जाकर ब्रिटिश सरकार से भारत छोड़ने से पूर्व दलितों की कुछ व्यवस्था कर देने का आग्रह कर रहे थे। लेकिन इस बार उन्हें लन्दन में वह समर्थन नहीं मिला जो गोलमेज़ सम्मेलन के दिनों में मिला था, क्यों कि अब ब्रिटिश सरकार के लिए उन की उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी।

इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाना चाहिए कि अम्बेडकर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष से अपने को न केवल अलग रखा बल्कि वह इस आन्दोलन को अनुचित भी बताते रहे। यह बहुत दुखद है कि एक ओर तो वह हरिजनों की स्वाधीन अस्मिता की माँग कर रहे थे और दूसरी ओर सम्पूर्ण भारतीय समाज की स्वाधीनता के लिए किये जा रहे संघर्ष को अनुचित बता रहे थे। इस तथ्य को आसानी से नहीं भुलाया जा सकेगा कि जब भारत छोड़ो आन्दोलन जैसे महान् संघर्ष की तैयारी हो रही थी, उन्हीं दिनों अम्बेडकर ने न केवल वायसराय की कार्यकारिणी की सदस्यता स्वीकार की, बल्कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीजी के नेतृत्व में लड़ी जा रही आज़ादी की लड़ाई को केवल सत्ता की लड़ाई माना। इस लिए लोहिया की अम्बेडकर के आन्दोलन के बारे में यह राय आधारहीन नहीं लगती कि *वह कोई अच्छा आन्दोलन नहीं था, राजकीय मामले में बहुत ही ख़राब था। वह अंग्रेजी साम्राज्य के साथ चल कर खड़ा रहने वाला आन्दोलन था* (समाजवादी आन्दोलन का इतिहास पृष्ठ 148)। स्पष्ट है कि इस के पीछे भी अम्बेडकर की वही पृथक्तावादी चिन्तन-शैली काम कर रही थी—जो एक दूसरे रूप में मुस्लिम लीग में भी काम कर रही थी—और इसी लिए उन्होंने दलित वर्ग में अपने प्रभाव का उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन को मजबूत बनाने में नहीं किया। इस दृष्टि से बाबू जगजीवनराम की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। यह बहुत दुखद है कि गाँधीजी के प्रति अम्बेडकर के मन में बड़ी कटुता बनी रही, जब कि दलितों के उत्थान में गाँधीजी की भूमिका किसी भी अन्य नेता से अधिक ही रही थी, चाहे उन के प्रयत्नों को पूरी सफलता न भी मिली हो।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि एक राजनीतिक विचारक की हैसियत से भी अम्बेडकर राज्यवादी ही अधिक लगते हैं। संविधान सभा में अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा था कि एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सविनय अवज्ञा, असहयोग और सत्याग्रह के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। ये चीज़ें अराजकता के व्याकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं और जितनी जल्दी उन से मुक्त हो सकें, उतना ही बेहतर है। लगता यह है कि गाँधीजी के विचारों के विरोध के अपने अतिरेक में अम्बेडकर यह बात भी भूल रहे थे कि इन उपायों के बिना उन दलितों के अधिकार भी सुरक्षित नहीं रह सकते थे, जिन के लिए वह स्वयं ज़िन्दगी भर लड़ते रहे थे।

कहा जा सकता है कि अम्बेडकर को दलित वर्ग के एक सदस्य के नाते जिस उत्पीड़न से गुज़रना पड़ा था, उसे भूल पाना आसान नहीं था और इसी लिए सवर्णों के प्रति उन का अविश्वास यदि इतना गहरा था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में भी साथ देना उन्हें स्वीकार नहीं हो सका तो इसे अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिए। लेकिन यहीं गाँधीजी और अम्बेडकर का फ़र्क़ भी समझ में आता है। गाँधीजी को भी एक ग़ुलाम भारतीय के नाते अंग्रेजों के हाथों घोर अपमान सहना पड़ा था और निश्चय ही वह अपमान स्वाधीनता संघर्ष में उन की प्रेरणा भी बना होगा लेकिन गाँधीजी अंग्रेजों से लम्बी लड़ाई लड़ने के बावजूद उन के प्रति न केवल कटु नहीं हुए बल्कि बहुत से गोरों का सहयोग और घनिष्ठ मित्रता उन्होंने प्राप्त की। अम्बेडकर एक सरल-सी बात समझ नहीं सके कि यदि वह अपने अनुयायियों के साथ पूरे प्राणपण से राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ते तो इस से भी सवर्णों और दलितों में समानता, सहयोग और भाईचारे का वातावरण और घना बनता और उस लक्ष्य की पूर्ति में मदद मिलती जिस के लिए अम्बेडकर ने अपना पूरा जीवन लगा दिया था। यदि अम्बेडकर बुद्ध और ज्योतिबा फुले को अपना गुरु मान सकते थे तो उन्हें गाँधीजी को एक वरिष्ठ सहयोगी मानने से तो इनकार होना ही नहीं चाहिए था। यदि नेहरू के नेतृत्व में एक मन्त्री होने में उन्हें एतराज नहीं हुआ तो उन्हीं कारणों से गाँधीजी के नेतृत्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में एक स्वतन्त्रता सेनानी होने में उन्हें आपत्ति होना नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक स्तरों पर पर्याप्त आश्वस्तिकर नहीं लगता। निश्चय ही दलित वर्ग के उत्थान में अम्बेडकर की अद्वितीय भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन गाँधीजी की समग्रतामूलक दृष्टि और नेतृत्व के साथ उन की तुलना असन्तुलित लगती है। राममनोहर लोहिया ने गाँधीजी से अलग रास्ता अपनाने वाले नेताओं का जिक्र करते हुए लिखा है—*सुभाष बाबू, भगतसिंह या ऐसे जितने भी लोग हैं उन के देशप्रेम की तो चाहे जितनी स्तुति करो, लेकिन इन को और गाँधीजी को कभी एक तराजू में रख न देना। गाँधीजी हज़ारों बरस के आदमी थे। हो सकता है हम भूल कर रहे हों। शायद वे कुछ नहीं थे। लेकिन अगर हैं तो वे सारे संसार को मोड़ देने वाले आदमी हैं* (समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, पृष्ठ 65)। दलित उत्थान के सन्दर्भगत परिवर्तन के साथ यही बात अम्बेडकर के बारे में भी कही जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधी, अम्बेडकर और दलित

दलित वर्ग के प्रति महात्मा गाँधी और बाबा साहब अम्बेडकर की नीति को ले कर काफ़ी अरसे से एक अनावश्यक और निरर्थक बहस चलायी जाती रही है। पिछले कुछ दिनों से इस बहस में एक नया आयाम यह जुड़ गया है कि महात्मा गाँधी की आलोचना किये बिना मानो डॉ. अम्बेडकर के पक्ष को सुस्थापित नहीं किया जा सकता—बल्कि कुछ इस तरह की तर्क-पद्धति अपनायी जाती है मानो महात्मा गाँधी दलित वर्ग के साथ सहानुभूति के नाम पर उन के ख़िलाफ़ कोई षड्यन्त्र रच रहे थे और उन्हें इस षड्यन्त्र में फँसा कर सदैव के लिए दलित ही रहने देना चाहते थे।

इस का मुख्य कारण यह बताया जाता है कि महात्मा गाँधी वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे और वर्ण-व्यवस्था के बने रहते हुए दलितों को समानता का अधिकार नहीं मिल सकता। यह स्पष्टतः महात्मा गाँधी के वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को एक पूर्वग्रह के साथ समझना है। इस पूर्वग्रह के कारणों को समझा जा सकता है और उस के बीज निश्चय ही हिन्दू समाज के इतिहास में दलितों के साथ हुए निरन्तर अन्याय में मौजूद हैं। लेकिन महात्मा गाँधी उस अन्याय को पाप मानते और उसे मिटा देने के लिए कृत-संकल्प हैं। इस लिए जब वह वर्ण-व्यवस्था की बात करते हैं तो वह एक आदर्श कल्पना की तरह है, जैसे उन की स्वराज की अवधारणा एक आदर्श कल्पना है और उस आदर्श कल्पना से नीचे की कोई भी स्थिति उन के लिए काम्य नहीं है। जिस तरह वह स्वराज्य के नाम पर प्रतिनिधि सत्तात्मक लोकतन्त्र को स्वीकार नहीं करते तथा संसद तक को निष्फल और *वेश्या* तक कह देते हैं, उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था के नाम पर प्रचलित हिन्दू समाज-व्यवस्था को भी *पाप* मानते और उसे बदल देना चाहते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि गाँधीजी के लिए पाप से अधिक घृणात्मक कोई और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

शब्द नहीं है। इसी लिए वह हिन्दू शास्त्रों के बारे में भी निस्संकोच यह कह पाते हैं हिन्दू शास्त्रों में लिखा प्रत्येक शब्द और श्लोक उन के लिए *दैवी प्रेरणा से रचित नहीं है* तथा उन की ऐसी कोई भी व्याख्या स्वीकार नहीं की जा सकती जो विवेक और नैतिक बोध के प्रतिकूल हो।

यह उल्लेखनीय है कि वर्ण-व्यवस्था में असमानता का प्रदूषण खान-पान और विवाह आदि पारस्परिक सम्बन्धों में लगाए गए प्रतिबन्धों के कारण विकसित हुआ है। गाँधीजी इन निषेधों को अनावश्यक और नुक़सानदेह मानते हुए अन्तरजातीय खान-पान और विवाह को वर्ण-धर्म का उल्लंघन मानने से पूरी तरह न केवल असहमत होते हैं, बल्कि दलित वर्ग के साथ विवाह-सम्बन्धों को वैचारिक ही नहीं, नैतिक और व्यावहारिक समर्थन भी देते हैं। वर्तमान वर्ण-व्यवस्था की स्थिति के बारे में उन का स्पष्ट कथन था कि *जहाँ तक मैं समझता हूँ वर्ण-व्यवस्था को ले कर पूर्ण भ्रम फैला हुआ है और मैं चाहता हूँ कि सभी हिन्दू स्वेच्छापूर्ण अपने को शूद्र घोषित कर दें।* उन की राय में वास्तविक वर्ण-धर्म के पुनरुद्धार का यही एकमात्र रास्ता हो सकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि महात्मा गाँधी की वर्ण-व्यवस्था में किसी तरह के उच्चावच क्रम का कोई स्थान नहीं है, इस लिए किसी एक वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता।

दलित वर्ग के अभ्युत्थान के लिए गाँधीजी के प्रयासों को इसी सन्दर्भ में समझे जाने की ज़रूरत है। यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ एक ओर वे इस के लिए सामाजिक स्तर पर प्रयास करना चाहते हैं, वहीं दलित वर्ग को क़ानूनी संरक्षण और समानता का अधिकार दिये जाने का भी समर्थन करते हैं—बल्कि यह उन्हीं के कारण हो सका कि कांग्रेस ने स्वतन्त्रता प्राप्त होने से पूर्व ही अस्पृश्यता समाप्त करने की घोषणा (1920-21) कर दी थी। साथ ही, यह भी स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि जब गाँधीजी सवर्ण समाज से यह आग्रह करते हैं कि उन्हें दलित वर्ग की सामाजिक स्थिति में सुधार और उन के लिए शिक्षा तथा आर्थिक विकास के अवसर जुटाने के लिए सचेष्ट होना चाहिए, तब इस का यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि दलितों को अपने पर हो रहे अन्याय को सहते रहना चाहिए। गाँधीजी की दृष्टि में अन्याय को सहना भी अनुचित है, इस लिए यदि दलित अपने अधिकारों की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हैं तो वह गाँधीजी को सदैव मान्य ही होगा—उस की शर्त केवल अहिंसा ही हो सकती है। लेकिन अहिंसा तो उन के लिए भारत की स्वतन्त्रता की भी शर्त है। इस के अतिरिक्त, किसी भी लोकतान्त्रिक समाज में अहिंसात्मक संघर्ष ही एकमात्र रास्ता हो सकता है। यहाँ इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं बाबा साहब अम्बेडकर को भी संघर्ष का अहिंसक रूप ही काम्य था। लोकतान्त्रिक पद्धति से संगठित नैतिक दबाव के माध्यम से क़ानूनी अधिकार प्राप्त करने का तरीक़ा अहिंसक ही हो सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बाबा साहब सैद्धान्तिक रूप से किसी आन्दोलन को न केवल अहिंसा बल्कि क़ानून-सम्मत तरीक़ों से चलाये जाने पर ज़ोर देते थे जब कि महात्मा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधी के लिए क़ानून-सम्मत होना उतना ज़रूरी नहीं था, जितना अहिंसक होना। इसी लिए उन के आन्दोलनों को अहिंसक विद्रोह कहा जाता है। सम्भवतः, यही कारण था कि महात्मा गाँधी के आन्दोलनों को बाबा साहब का समर्थन नहीं मिला और *भारत छोड़ो* आन्दोलन जैसे अभूतपूर्व आन्दोलन के समय भी वह गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य बने रह कर आन्दोलन के दमन के ब्रिटिश तरीक़ों को अपना नैतिक समर्थन देते रहे।

इस बात पर भी ग़ौर किया जाना चाहिए कि अम्बेडकर दलित वर्ग को जो अधिकार दिलाना चाहते हैं, गाँधीजी भी न केवल उन का समर्थन करते बल्कि सवर्ण समाज को उन अधिकारों को स्वीकार कर लेने के लिए भावात्मक-नैतिक स्तर पर तैयार कर लेने का प्रयत्न करते दिखायी देते हैं। इस में विरोध की क्या बात है? यह भी स्पष्ट है कि ऐसा करते हुए वह दलित वर्ग को दया का पात्र बता कर उन के प्रति उदारता बरतने को नहीं कहते। उन की दृष्टि में दलित वर्ग के अभ्युत्थान के लिए सवर्ण समाज द्वारा किये जाने वाले प्रयास स्वयं सवर्ण समाज के नैतिक अभ्युदय के लिए अनिवार्य हैं। यह दलित वर्ग पर कोई एहसान नहीं बल्कि सवर्ण समाज का प्रायश्चित्त है और प्रायश्चित्त किसी और के लिए नहीं बल्कि अपने पापों के लिए किया जाता है—अपनी आत्मशुद्धि और आत्मविकास के लिए। इस लिए जब गाँधीजी सवर्ण समाज से अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त करने का आग्रह करते हैं तो उस का प्रयोजन दलित वर्ग पर दया करना नहीं बल्कि *पाप* में लिप्त एक समाज को उस *पाप* से मुक्त करना है। यदि दलितों द्वारा अपने अधिकारों के लिए अहिंसक संघर्ष को स्वीकृति देते हुए महात्मा गाँधी हिन्दू समाज का एक सदस्य होने के नाते अपने समाज को उस के पाप का बोध करवाते हुए प्रायश्चित्त के माध्यम से उस की आत्मशुद्धि करने का प्रयत्न करते हुए दिखायी देते हैं तो उन के इस प्रयत्न को किस आधार पर अनुचित कहा जा सकता है? यह समझ में आने वाली बात नहीं है। क्या किसी को अपने पाप के प्रायश्चित्त का अधिकार देने में भी किसी को कोई एतराज हो सकता है?

इस के अतिरिक्त, किसी भी बौद्धिक विमर्श में किसी विचार के विकास की प्रक्रिया को भी नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। यदि हम ऐसा करते हैं तो इस का सीधा तात्पर्य यही है कि हमारा प्रयोजन किसी विचार को समझना नहीं बल्कि उस पर बहस के माध्यम से किसी राजनीतिक प्रयोजन—स्थूल अर्थों में राजनीतिक प्रयोजन—की सिद्धि करना है। गाँधीजी के कथनों के सन्दर्भच्युत और अधूरे उद्धरणों को उन के मूल मन्तव्य से काट कर प्रस्तुत करना कुछ ऐसे ही प्रयास का लक्षण हो जाता है। यह देखना चाहिए कि किसी विचार या नीति का विकास धीरे-धीरे किस प्रकार होता है। यदि हम इस बात को ध्यान में न रखें तो सहज ही गाँधीजी को एक ऐसे कामुक व्यक्ति के रूप में चित्रित कर सकते हैं जो अपने पिता के मृत्युशैया पर होने के समय पास ही के कमरे में अपनी पत्नी के साथ हमबिस्तर था। लेकिन इस घटना की जानकारी आख़िर स्वयं गाँधीजी ही तो हम को देते हैं और यही घटना आगे चल कर उन के ब्रह्मचर्य जीवन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का बीजाधार बनती है, जो इस बात का प्रमाण है कि महात्मा गाँधी का जीवन एक अनवरत शोध है और अनवरत शोध का तात्पर्य ही यह है कि हर शोध में कोई चीज़ छूट जाती है, जिसे जानने के प्रयास भविष्य में होते रहने अनिवार्य हैं। यह प्रयास वह व्यक्ति स्वयं भी कर सकता है और अन्य लोग भी। प्रयास के अधूरे रहने या असफल रह जाने का अर्थ सदैव मन्तव्य या नीयत की कमी नहीं माना जा सकता—और ऐसे व्यक्तित्व के साथ तो उसे जोड़ना और भी अन्याय होगा जो निरन्तर अपने प्रयोग के अधूरेपन को पहचानता और उस दिशा में और आगे बढ़ने के लिए सजग और सचेष्ट रहता है। यदि महात्मा गाँधी के प्रायश्चित्त को हम असफल भी मानें तो भी उन के प्रयासों की ईमानदारी और अहिंसात्मक उपायों से सामाजिक समानता स्थापित करने में उन की निष्ठा की प्रामाणिकता पर किसी भी तरह का सन्देह करना उन के प्रति अन्यायपूर्ण और हमारी बौद्धिक प्रामाणिकता के लिए अस्वास्थ्यकर होगा।

यदि हम ऐसा न समझें तो स्वयं बाबा साहब को समग्रतः समझने में भी हमें दिक्कत ही होगी। स्वयं बाबा साहब के विचारों के विकास को न देखा जाय तो उन्हें भी ग़लत समझा जा सकता है। *भारत छोड़ो* आन्दोलन के दौर में उन के गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का सदस्य होने की बात तो पहले की ही गयी है। लेकिन 1927 में साइमन कमीशन के समक्ष अपनी गवाही में बाबा साहब ने आदिवासियों को मतदान का समान अधिकार देने के विरुद्ध राय व्यक्त की थी, जब कि बाद में संविधान की प्रारूप-समिति में उन के नेतृत्व में ही यह अधिकार उन्हें मिला। यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि वह जिन्ना के *द्विराष्ट्र-सिद्धान्त* के समर्थक थे और उस का कारण लगभग वही था जिस के आधार पर आज हिन्दू सम्प्रदायवादी भारतीय मुसलमानों के प्रति प्रतिशोध का भाव अपनाये हुए हैं—यद्यपि स्वयं बाबा साहब में इस तरह के प्रतिशोध की बात नहीं है, पर इस्लाम को एक कट्टर धर्म मानते हुए वे पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर लेने की सलाह देते हैं ताकि हिन्दू सुखपूर्वक रह सकें। दरअस्ल, गाँधीजी सब को मिला कर चलते हुए समस्याओं के अहिंसात्मक समाधान को उचित मानते हैं और बाबा साहब विभक्ति के माध्यम से समाधान चाहते हैं। समाज आज विभक्त है, यह यथार्थ गाँधीजी से छिपा हुआ नहीं है, पर वह इसे एक रोग मान कर उस का उपचार चाहते हैं। कोई चाहे तो उन से असहमत हो सकता है, पर उन की कामना की वांछनीयता और प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं हो सकता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधीवाद : गाँधी के बाद

गाँधीजी ने शुरू में ही—ठेठ उन्नीस सौ तीस में—ऐसी भविष्यवाणी कर दी थी कि स्वराज्य की लड़ाई के बाद अगर वे जिन्दा बचे तो अंग्रेजों के साथ जिस तरह लड़ाई लड़नी पड़ी, वैसी ही अनेक अहिंसक लड़ाइयाँ स्वराज्य के बाद भी लड़नी पड़ेंगी। गाँधीजी कितने क्रान्तद्रष्टा, पारदर्शी पुरुष थे।

—**जयप्रकाशनारायण** (मेरी विचार-यात्रा, भाग दो)

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में लड़े गए स्वाधीनता संग्राम के एक प्रमुख सेनानी और दो दशकों तक सर्वोदय आन्दोलन के एक प्रमुख सूत्रधार रहे जयप्रकाशनारायण के इस कथन में आस्था रखने वाले लोगों से स्वयं गाँधीजी को क्या अपेक्षाएँ हो सकती थीं? स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी वैसी ही जिन अहिंसक लड़ाइयों की सम्भावना की बात गाँधीजी कर रहे थे, उन का क्या उद्देश्य हो सकता था और वे किन के साथ लड़ी जानी थीं?

महात्मा गाँधी के सम्पूर्ण जीवन और चिन्तन का लक्ष्य एक अहिंसक समाज की रचना करना कहा जा सकता है। मोटे तौर पर इस अहिंसक समाज के तीन मुख्य आधार माने जा सकते हैं। पहला है राजनीतिक विकेन्द्रीकरण अर्थात् ग्राम-स्वराज्य पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था; दूसरा है आर्थिक विकेन्द्रीकरण अर्थात् स्वदेशी और ट्रस्टीशिप के आधार पर विकसित अर्थव्यवस्था; और तीसरा आधार है इन उद्देश्यों को प्राप्त करने की अहिंसक पद्धति अर्थात् सत्याग्रह। इस लिए *गाँधी के बाद गाँधीवाद* की स्थिति पर विचार करने के लिए यह देखना बेहतर होगा कि गाँधी-विचार में आस्था रखने वाले समूहों द्वारा इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए चिन्तन और कर्म—दोनों ही स्तरों पर क्या प्रयत्न किये गये और किस सीमा तक सफल या असफल रहे?

इन समूहों में पहला समूह उन लोगों का है जिन का नेतृत्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जवाहरलाल नेहरू करते हैं। गाँधीजी ने जवाहरलाल नेहरू को जब अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, तब कहीं-न-कहीं उन के मन में यह विश्वास रहा होगा कि स्वराज्य के बाद उन के उद्देश्यों के सब से बड़े वाहक पण्डित नेहरू ही होंगे। शायद यही कारण था कि जब ग्राम-स्वराज्य की अवधारणा पर विचार करने और उस के अनुरूप स्वतन्त्र भारत की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को ढालने के प्रस्ताव के उत्तर में गाँधीजी को जवाहरलालजी का खीझ भरा एक पत्र मिला तो गाँधीजी ने यही कहते हुए उन से एक बहस चलानी चाही थी कि वह जवाहरलाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर चुके हैं, इस लिए उन के साथ अपने मतभेदों पर एक सार्वजनिक बहस चलाना ज़रूरी समझते हैं, ताकि उन दोनों के मतभेद सभी के सम्मुख स्पष्ट हों। यह बहस इस लिए ज़रूरी थी कि इस से जनता गाँधीजी के उत्तराधिकारी को ले कर किसी तरह के भ्रम में नहीं रहती। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि वैचारिक बहसों में उलझी रहने वाली पश्चिमी मनीषा से मुग्ध जवाहर लाल देश के भविष्य के बारे में गाँधीजी से बहस करने के लिए तैयार नहीं हुए। लेकिन वह गाँधीजी के विचारों के अनुसार देश को चलाने के लिए भी तैयार नहीं थे। शायद यही कारण था कि देश के संविधान का निर्माण करते समय किसी को गाँधीजी के ग्राम-स्वराज्य की याद नहीं आयी। संविधान के मसविदे के पूरा तैयार हो जाने के बाद शायद टी. प्रकाशम् ने या सन्तानम् ने जब इस तथ्य की ओर राजेन्द्र बाबू का ध्यान दिलाया कि उस में ग्राम-स्वराज्य की कोई बात ही नहीं है तो पण्डित नेहरू और सरदार पटेल आदि तक भी यह बात पहुँचायी गयी और तब कुछ *आवेशपूर्ण* चर्चाओं के बाद राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में ग्राम पंचायत को स्वशासन की इकाई मानने की बात लिख दी गयी। जयप्रकाशनारायण की यह टिप्पणी मार्मिक है कि राष्ट्रीय क्रान्ति के केन्द्र रूप गाँधीजी के इस राजनीतिक विचार को हमारे संविधान में मात्र इतना ही स्थान मिल सका। मैं ऐसा मानता हूँ कि *उलटी दिशा में जाने की यह पहली महत्त्वपूर्ण शुरुआत थी।* (मेरी विचार-यात्रा) आर्थिक मामलों में भी जवाहरलालजी और उन के नेतृत्व में आस्था रखने वाले समूह की दिशा गाँधीजी से बिलकुल विपरीत थी। वे कुटीर उद्योगों के बजाय बड़ी मशीनों पर आधारित कारख़ानों और विशाल पैमाने के उत्पादन में विश्वास करते थे। यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम दौर में उन्हें शायद अपनी असफलता का एहसास होने लगा था और नवम्बर 1963 में लोकसभा में एक वक्तव्य में उन्होंने स्वीकार भी किया कि गाँधीजी के रास्ते को छोड़ना ग़लती थी और अब भी उसी रास्ते पर लौटना बेहतर होगा, लेकिन जैसा कि जे.पी. ने भी लिखा है कि तब तक चीज़ों पर उन का नियन्त्रण नहीं रहा था; और यह भी कि इतिहास ने फिर उन्हें वक़्त नहीं दिया।

सक्रिय राजनीति करने वालों में डॉ. राममनोहर लोहिया और उन के नेतृत्व में चलने वाले समाजवादी समूह को भी एक क़िस्म का गाँधीवादी माना जा सकता है। डॉ. लोहिया स्वयं बड़ी हद तक गाँधीजी के विचारों में आस्था प्रकट करते थे, और व्यंग्य में अपने जैसे लोगों को *कुजात गाँधीवादी* कहते थे। इस में कोई सन्देह नहीं कि डॉ. लोहिया की राजनीतिक अवधारणाओं और पद्धति पर गाँधी-विचार की छाप बड़ी स्पष्ट दिखायी देती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

डॉ. लोहिया की *चौखम्भा राज* की अवधारणा को एक तरह से गाँधीजी की सम्प्रभुता के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा की ही संरचनात्मक व्याख्या कहा जा सकता है। इस के अतिरिक्त छोटी मशीन की उत्पादक प्रणाली, न्यूनतम और अधिकतम आय के अनुपात तथा उन की *सप्तक्रान्ति* की अवधारणा पर भी गाँधी दृष्टि का गहरा प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। शान्तिपूर्ण या अहिंसक संघर्ष में भी डॉ. लोहिया न केवल पूरा विश्वास करते थे, बल्कि *सिविल नाफ़रमानी* उन की राजनीतिक पद्धति का केन्द्रीय आधार थी। निस्संकोच कहा जा सकता है कि गाँधीजी के सत्याग्रह का तेज़ आज़ादी के बाद की राजनीति में या तो डॉ. लोहिया में ही दिखायी देता रहा या बिहार आन्दोलन के दौरान जयप्रकाशनारायण में। लेकिन गाँधी-चिन्तन की विरासत को सम्भालते हुए भी डॉ. लोहिया व्यवहार में संसदीय राजनीति के दुश्चक्र में उलझ कर रह गये और समाज के बुनियादी परिवर्तन के लिए कोई राष्ट्रव्यापी आन्दोलन खड़ा करने के बजाय उन की सारी व्यावहारिक राजनीति ग़ैर-कांग्रेसवाद तक सीमित हो कर रह गयी। उन के अनुयायियों में भी जितनी दिलचस्पी संसदीय संस्थाओं और आधुनिक कारख़ानों पर आश्रित अर्थव्यवस्था में दिखायी दी, उस का शतांश भी ग्राम-स्वराज्य, आर्थिक विकेन्द्रीकरण या सम्पत्ति की संस्था को नष्ट करने के प्रयत्नों के लिए नहीं दिखी। दलीय या संसदीय राजनीति का रास्ता निश्चय ही गाँधीजी का मुख्य रास्ता नहीं हो सकता था, क्यों कि जिन अहिंसक लड़ाइयों की बात गाँधीजी ने 1930 में कही थी, उन में एक लड़ाई दलीय और संसदीय लोकतन्त्र के ख़िलाफ़ भी होनी थी।

इस दृष्टि से विनोबा और जयप्रकाशनारायण का रास्ता शायद अपेक्षाकृत गाँधी-दृष्टि के अधिक अनुकूल रास्ता था और इस लिए सामान्यचित्त में भी ये दोनों व्यक्तित्व और उन से जुड़े समूह ही गाँधीवादियों के रूप में जाने जाते हैं। विनोबा की मान्यता थी कि गाँधी-विचार, जिसे उन्होंने सर्वोदय कहा, को संसदीय राजनीति के माध्यम से नहीं, बल्कि रचनात्मक कार्यक्रमों और लोक-शिक्षण के माध्यम से ही अमलीजामा पहनाया जा सकता है। जयप्रकाशनारायण ने सर्वोदय विचार को भी एक क़िस्म का समाजवाद मानते हुए कहा कि दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर *कार्यपद्धति और साधन* का है। सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मक प्रकृति की अवधारणा के आधार पर समाजवाद का वर्गीकरण करते हुए जे.पी. ने हिंसा के माध्यम से स्थापित समाजवाद को *तामसिक*, राज्यशक्ति द्वारा स्थापित लोकतान्त्रिक समाजवाद को *राजसिक* तथा जनता के विचारों या व्यवहार में परिवर्तन के माध्यम से स्थापित समाजवाद को *सात्त्विक समाजवाद* या *सर्वोदय* कहा। (मेरी विचार-यात्रा, भाग एक)

दरअस्ल, ग्राम-स्वराज्य, स्वदेशी और ट्रस्टीशिप तथा सत्याग्रह की अवधारणा में विनोबा और उन के अनुयायियों की पूरी आस्था रही और भूदान-ग्रामदान के आन्दोलन भी इन्हीं उद्देश्यों की सिद्धि के उद्देश्य से किये जाने वाले कार्यक्रम थे। विनोबा द्वारा रचनात्मक कार्यक्रमों को सत्याग्रह की संज्ञा देना भी उचित ही था। सत्याग्रह की विधि वस्तुतः हृदय-परिवर्तन की ही एक विधि थी और भूदान-ग्रामदान जैसे रचनात्मक कार्यक्रम भी हृदय-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

परिवर्तन की विधि का ही एक रूप थे। विनोबा द्वारा लोक-शिक्षण को भी एक प्रकार का सत्याग्रह—सौम्य या सौम्यतर सत्याग्रह मानना भी संगत ही था। उन के कुछ अनुयायियों की दृष्टि में तो विनोबा का यह सत्याग्रह गाँधीजी के सत्याग्रह से भी बढ़ कर था। धीरेन्द्र मजूमदार के शब्दों में : *गाँधी का आन्दोलन युद्ध था, क्रान्ति नहीं थी। विनोबा का आन्दोलन क्रान्ति है। युद्ध एक पार्टी द्वारा दूसरी पार्टी को पराजित करने के लिए होता है। क्रान्ति मनुष्यों की सभ्यता, परम्परा को बदलने के लिए होती है। उत्कटता से मनुष्य का विचार बदलता नहीं है। उत्कटता से मनुष्य से कुछ काम करवाया जा सकता है। चूँकि इनसान के मूल्य और विचार बदलने हैं, इस लिए विशेष प्रक्रिया चाहिए। 'विद्या ददाति विनयम्'—शिक्षण-प्रक्रिया हमेशा सौम्य होती है। युद्ध-प्रक्रिया हमेशा तीव्र होती है।*

यह भी सही है कि भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में आ गये बहुत से दोषों और कमज़ोरियों के बावजूद उस की उपलब्धियाँ भी उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सर्वोदय की आधिकारिक पद्धति से मोहभंग के दौर में भी स्वयं जयप्रकाशनारायण यह स्वीकार करते हैं कि न केवल इस आन्दोलन में आम जनता बड़े पैमाने पर शामिल हुई बल्कि *आंकड़ों की दृष्टि से भी आँखें खोलने वाला परिणाम इस आन्दोलन का आया है। देशभर की राज्य सरकारों ने भूमि-सुधार सम्बन्धी क़ानून बना-बना कर जो परित्याग हासिल किये हैं, उन से कई गुणा अधिक भूमि भूदान-ग्रामदान द्वारा वितरित की गयी है। और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सदियों से भूमि की मिल्कीयत सम्बन्धी जो मूल्य समाज में प्रतिष्ठित थे, उन के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में एक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन इस आन्दोलन के द्वारा आया है।* लेकिन जल्दी ही उत्साह ठण्डा पड़ गया और स्वयं जयप्रकाशजी के शब्दों में : *ग्रामदान और मिल्कीयत-विसर्जन की नयी परिकल्पनाओं के प्रति शुरू में उत्साह की जो लहर दौड़ी थी, उस के शान्त हो जाने पर, अधिकतर गाँव फिर से अपने पुराने ढर्रे पर चलने लगे। नतीजा यह हुआ कि ग्रामदान का सन्देश दूर-दूर तक पहुँचा अवश्य, लेकिन गाँवों के आर्थिक और शासकीय ढाँचे में प्रभावकारी परिवर्तन नहीं हुए।* इसी तरह स्वदेशी और ट्रस्टीशिप की अवधारणाओं में सर्वोदय का विश्वास तो ज़रूर रहा, लेकिन बड़े उद्योगों को स्थापित करने की सरकारी नीति के विरोध या ट्रस्टीशिप की स्थापना के लिए कोई दबाव निर्मित करने का काम भी उस ने नहीं किया। सच तो यह है कि गोवधबन्दी या शराबबन्दी के लिए जितना दबाव सरकार पर डाला गया, उतना भी ग्राम-स्वराज्य या ट्रस्टीशिप के लिए नहीं।

लोकशिक्षण भी सत्याग्रह का एक अंग है, लेकिन उसी तक सत्याग्रह को सीमित कर देना विनोबा के कार्यक्रम की सीमा रही। गाँधीजी भी लोकशिक्षण के द्वारा हृदय-परिवर्तन पर ज़ोर देते थे, लेकिन उन के लिए अहिंसक संघर्ष भी हृदय-परिवर्तन की ही एक विधि था। स्वयं कष्ट सह कर दूसरे में सोये मनुष्य को जगाना भी शिक्षण का ही एक प्रकार माना जाना चाहिए। लेकिन विनोबा सत्याग्रह के संघर्ष—अहिंसक संघर्ष वाले रूप को भी टकराव मानते और उस से बचना चाहते रहे। यह गाँधीजी का रास्ता नहीं हो सकता था। न्यासिता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए गाँधीजी जिस त्रिआयामी योजना का प्रस्ताव करते हैं, वह उन के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी लागू होती है। एक ओर गाँधीजी पूँजीपतियों से आग्रह करते हैं कि वे न्यासिता के सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करें, लेकिन साथ ही वे श्रमिकों और राज्य को भी अपनी-अपनी भूमिका निबाहने का निर्देश देते हैं। श्रमिकों से वह कहते हैं कि उन्हें पूँजीपतियों के हृदय-परिवर्तन का इन्तज़ार करने की ज़रूरत नहीं है। शिक्षण ही नहीं, अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा भी गाँधीजी की दृष्टि में दो सही और अचूक उपाय हैं। जिन उपायों को ब्रिटिश साम्राज्य जैसी शक्ति के सम्मुख काम में लिया जा सकता है, उन्हें पूँजीपतियों के शोषण और अन्याय को मिटाने और आर्थिक समानता लाने के लिए क्यों नहीं काम में लिया जा सकता है? यह सिद्धान्त की नहीं, उसे व्यवहार में लाने का प्रयत्न करने वाले कार्यकर्ताओं की ही कमी माननी चाहिए कि उन्होंने मात्र लोकशिक्षण को ही महत्त्व दिया, अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा को नहीं। राज्य से भी गाँधीजी यही अपेक्षा करते हैं कि वह क़ानून बना कर न्यासिता के सिद्धान्त को लागू कर सकता है। दरअस्ल, गाँधीवादी मुद्दे पर भी एक अहिंसक लड़ाई लड़ना और राज्य पर भी दबाव डाल कर सम्बन्धित क़ानून बनवाने का प्रयास करना वांछनीय होना चाहिए था, लेकिन सर्वोदय आन्दोलन हमें इस दिशा में कहीं भी सक्रिय नहीं दीखता। शायद यही कारण रहा कि शोषण और अन्याय से पीड़ित समाज में सर्वोदय के कार्य केन्द्रीय भूमिका नहीं निभा पाये। उन की उपस्थिति हाशिये पर ही रही।

सम्भवतः, इसी कारण जयप्रकाशनारायण को अन्ततः विनोबा से अलग रास्ता पकड़ना पड़ा। यह केवल तत्कालीन परिस्थिति को ले कर दोनों नेताओं के मतभेद नहीं थे, जिन्होंने एक-दूसरे का अत्यन्त आदर करने वाले दो गाँधी-विचारकों को अलग कर दिया। बात अधिक गहरी थी क्यों कि जयप्रकाश विनोबा की पद्धति से ही धीरे-धीरे असन्तोष अनुभव करने लगे थे। जे.पी. इस बात को समझने लगे कि *विनोबाजी के रास्ते पर जिस अहिंसक क्रान्ति की सिद्धि के लिए पिछले 20 सालों से हम जूझ रहे थे, उस क्रान्ति का ध्येय ग्रामदान आन्दोलन द्वारा सिद्ध होना सम्भव नहीं।* 1954 से 1974 तक जे.पी. विनोबा के आन्दोलन के अंग बन कर रहे थे, पर अब वह किसी *नये मार्ग की खोज* में लग गये।

यह नया मार्ग था *सम्पूर्ण क्रान्ति* की अवधारणा और उस के लिए अहिंसक संघर्ष की पद्धति की स्वीकृति। बिहार आन्दोलन, आपात्काल और जनता पार्टी को *सम्पूर्ण क्रान्ति* की अवधारणा से जोड़ कर देखना उतना ही ग़लत होगा, जितना जवाहरलाल नेहरू की सरकार को गाँधीजी की अहिंसक समाज या ग्राम-व्यवस्था की अवधारणा से जोड़ कर देखना। सम्पूर्ण क्रान्ति गाँधी-दृष्टि का ही नव-रूपान्तर है, क्यों कि उस में न केवल सभी प्रकार के सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों की अहिंसक संरचना पर बल है, बल्कि उस की सिद्धि के लिए भी दलीय या संसदीय राजनीति की बजाय निर्दलीय अहिंसक संघर्ष या सत्याग्रह को ही एकमात्र उचित पद्धति माना गया है। जयप्रकाश तो सम्पूर्ण क्रान्ति के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सन्दर्भ में गाँधी-विचार में अब तक निषिद्ध पद वर्ग-संघर्ष को भी ले आते हैं, यद्यपि उस के अहिंसक होने पर उन का आग्रह बराबर बना रहता है—*इस लिए मेरी कल्पना के वर्ग-संघर्ष में हिंसा की कोई जगह नहीं है और मैं दृढ़तापूर्वक यह मानता हूँ कि वर्ग-संघर्ष में हिंसा को दूर रखा जा सकता है। वह शान्तिमय संघर्ष के रूप में, असहयोग के रूप में, सत्याग्रह के रूप में ही हो सकता है।* वह तो यहाँ तक मानते हैं कि केवल समझाने-बुझाने से काम नहीं चलेगा, इस लिए वर्ग-संघर्ष एक तरह से अनिवार्य है। भूदान-ग्रामदान के बीस वर्षों के अनुभव के बाद जे.पी. कहते हैं—*जो हल चलाता है, उस की ज़मीन न हो, यह तो बड़ा अन्याय है। उस को यह अधिकार मिलना चाहिए। लेकिन यह अधिकार हल चलाने वाले को कैसे प्राप्त हो, इस का जवाब तो यही लगता है कि वह स्वयं अपने अधिकार का दावा करे। जब तक नीचे के वर्गों में आत्मसम्मान पैदा नहीं होगा, उन के आत्मविश्वास का दबाव नहीं होगा, तब तक ऊपर के वर्गों का अपने-आप बदलना सम्भव नहीं लगता है। इस प्रकार मैं दुहरे दबाव की कल्पना करता हूँ—ईमानदार और निःस्वार्थ युवकों, कार्यकर्ताओं द्वारा व्यापक लोकशिक्षण का दबाव और पिछड़े, दबे लोगों के व्यापक वर्ग-संगठन का दबाव। दबाव की यह दुहरी ताक़त सामन्ती परम्पराओं और शोषण की व्यवस्था को तोड़ेगी।* (मेरी विचार-यात्रा, भाग दो)

कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण क्रान्ति की अवधारणा भी जयप्रकाशजी के देहावसान के साथ ही समाप्त हो गयी और आज उस का नाम भी कोई नहीं लेता है। लेकिन सवाल यह है कि क्या शोषण, दमन और उत्पीड़न समाप्त हो गये हैं? क्या एक अहिंसक समाज की रचना आज भी हमारी केन्द्रीय ज़रूरत नहीं है? क्या हिंसा से एक अहिंसक समाज की रचना सम्भव है? क्या केवल लोकशिक्षण से समाज में अपेक्षित बदलाव हो सकेगा? क्या लोकशिक्षण के साथ-साथ अहिंसक संघर्ष या सत्याग्रह ही एकमात्र उचित रास्ता नहीं? यदि हम मानते हैं कि अहिंसक तरीक़े से ही एक अहिंसक समाज की रचना हो सकती है और संघर्ष अहिंसक भी हो सकता है तो हम चाहे जिस शब्द का इस्तेमाल करें, हमारा लक्ष्य गाँधीजी के लक्ष्य से मिल जायेगा। सवाल सिर्फ़ यह है कि क्या हम वैसी अहिंसक लड़ाइयाँ लड़ने के लिए तैयार हैं, जैसी गाँधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य के साथ लड़ी थीं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वैज्ञानिक आध्यात्मिकता : एम.एन. राय

जनवरी की अन्तिम तिहाई आधुनिक भारतीय इतिहास में कई बातों के कारण बहुत स्मरणीय है। इसी अवधि में हमारा गणतन्त्र दिवस मनाया जाता है, साथ ही तेईस जनवरी को नेताजी सुभाष बोस की जयन्ती भी। तीस जनवरी महात्मा गाँधी का बलिदान दिवस है। लेकिन आधुनिक भारत के एक महान् विचारक और क्रान्तिकारी व्यक्तित्व की हम अक्सर अनदेखी कर जाते हैं, जिस की पुण्यतिथि भी जनवरी माह की अन्तिम तिहाई में ही पड़ती है। सामान्यतया किसी को याद भी नहीं आता कि मानवेन्द्र नाथ राय का देहावसान भी पचीस जनवरी को ही हुआ था। इस प्रकार जनवरी की अन्तिम तिहाई का सम्बन्ध हमारे तीन महापुरुषों से जुड़ जाता है।

यह संयोग तब और विस्मयजनक लगता है जब हम देखते हैं कि समान लक्ष्यों के लिए संघर्ष करते हुए भी इन तीनों में परस्पर गहरी असहमति थी। नेताजी सुभाष बोस और महात्मा गाँधी के विचारों और तरीक़ों में परस्पर विरोध का ज़िक्र तो आम बातचीत में अक्सर होता रहता है और सभी जानते हैं कि महात्मा गाँधी से असहमति के कारण ही नेताजी ने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दिया था। लेकिन एम.एन. राय उन लोगों में थे जो जितना नेताजी सुभाष बोस से असहमत थे, उतना ही महात्मा गाँधी से भी। सुभाष बोस द्वितीय महायुद्ध के दौरान धुरी राष्ट्रों के सहयोग से भारत की आज़ादी हासिल करने के पक्षधर थे और भारत से गुप्त रूप से निकल कर हिटलर से मिलते हुए वह जापान पहुँचे थे और जापान के समर्थन से ही अन्ततः आज़ाद हिन्द फ़ौज का गठन और संचालन किया गया था।

महात्मा गाँधी का तरीक़ा तो अहिंसात्मक ही हो सकता था। इस लिए उन्होंने युद्ध में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ धुरी राष्ट्रों का समर्थन नहीं किया, लेकिन इसी दौर में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रस्तावित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

किया। एम.एन. राय का इन दोनों से अलग विचार था। वह न केवल फासीवादी राष्ट्रों के विरोध में थे, बल्कि उन की मान्यता थी कि इस युद्ध में भारत को ब्रिटेन को हर सम्भव सहयोग करना चाहिए। उन की राय में अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ जिस तरह का रूप ले रही थीं, उन में इंग्लैण्ड के लिए यह अपरिहार्य था कि युद्ध के बाद उसे भारत को आज़ादी देनी ही पड़ेगी। यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में कांग्रेस भी युद्ध के दौरान किसी भी तरह के आन्दोलन के पक्ष में नहीं थी। यह तो महात्मा गाँधी के आग्रह—बल्कि आन्दोलन के प्रस्ताव से कांग्रेस के असहमत होने पर निजी हैसियत से आन्दोलन का आह्वान करने की मंशा जताने पर—कांग्रेस और नेहरू, पटेल, राजेन्द्र बाबू और मौलाना आज़ाद जैसे नेता आन्दोलन के प्रस्ताव पर सहमत हुए थे और राजाजी तो आख़िर तक न केवल प्रस्ताव का विरोध करते रहे, बल्कि आन्दोलन से उन्होंने अपने को अलग रखा। यही कारण था कई कांग्रेसजन भारत गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति के पद पर उन्हें आसीन करने पर सहमत नहीं हुए थे।

महात्मा गाँधी से एम.एन. राय की एक बुनियादी असहमति और भी थी। निजी स्तर पर महात्मा गाँधी को राय नैतिक उत्कृष्टता का प्रतिमान मानते थे, लेकिन महात्मा गाँधी की धार्मिक भाषा से उन की असहमति थी। महात्मा गाँधी के राजनीति में धर्म के समावेश और अन्तःकरण की आवाज़ के आधार पर सार्वजनिक जीवन में कार्य करने की प्रवृत्ति को राय उचित नहीं मानते थे। यद्यपि धर्म से गाँधीजी का तात्पर्य नैतिक मूल्यों से ही था—जिन का व्यावहारिक रूप अहिंसा है, लेकिन उस के साथ अन्तःकरण की आवाज़ की बात जोड़ देने पर बात कुछ रहस्यवादी-सी हो जाती थी। राय का मत था कि सार्वजनिक जीवन और राजनीति वैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर चलने चाहिए। अन्तःकरण की आवाज़ अर्थात् आत्मपरक भावना के बजाय तर्कसम्मत चिन्तन यानी मानवीय विवेक ही राजनीति का आधार हो सकता है। राय इसे *राजनीति का विवेकीकरण* कहते थे।

लेकिन राय के इस विवेकीकरण में नैतिकता समाविष्ट थी। हाँ, उस का आधार और कसौटी अन्तःकरण नहीं, विवेक यानी वैज्ञानिक चिन्तन ही हो सकता था। राय का मत था कि रहस्यवाद कभी फाशीवाद को प्रश्रय दे सकता है क्यों कि अन्तःकरण की आवाज़ आत्मपरक और वैयक्तिक ही हो सकती है और इस के चलते राजनीति के रहस्यवादी भावनाओं से संचालित होने के कारण फाशीवादी प्रवृत्तियों के विकसित होने का ख़तरा बना रहता है। भावना और आस्था के सवालों को विवेक के दायरे से बाहर मानने के क्या सार्वजनिक परिणाम हो सकते हैं, इस के प्रमाण हमें आजकल आये दिन हमारे समाज में देखने को मिल रहे हैं। पुस्तकों और कलाकृतियों को जलाना, उन पर प्रतिबन्ध, अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का दमन और लेखकों-कलाकारों के ख़िलाफ़ फ़तवे जारी करना, उन्हें जान से मार देने के लिए इनाम की घोषणाएँ आदि बातें भावना और आस्था के नाम पर ही हो रही हैं क्यों कि उन पर तर्कसम्मत विचार के लिए कोई सहमत नहीं है। यह और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भी विडम्बनापूर्ण है कि महाराष्ट्र की कांग्रेस सरकार और पश्चिम बंगाल की वामपन्थी सरकार तो वैचारिक और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगा रही है और संघ परिवार से सम्बन्धित प्रधानमन्त्री इस तरह के प्रतिबन्धों के ख़िलाफ़ वक्तव्य दे रहे हैं। आस्था और भावना के सवालों को तर्क तो क्या अदालत के दायरे से भी बाहर मानने का आग्रह तो जब कि संघ परिवार का ही रहा है।

दरअस्ल, आज की सामाजिक परिस्थिति में मानवेन्द्र नाथ राय जैसे विचारकों के पुनराविष्कार की ओर सचेष्ट होना सर्वाधिक वांछनीय है क्यों कि वहीं से एक वास्तविक लोकतन्त्र और ऐसी नैतिक व्यवस्था की प्रेरणा मिल सकती है जो किसी रहस्यवादी दर्शन को नहीं, मानवीय विवेक को आधार मानती हो। राय नैतिकता का स्रोत किसी रहस्यवादी अनुभूति को नहीं बल्कि मनुष्य के जैविक अस्तित्व को ही मानते हैं। राय का मानना है कि सामाजिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने से पहले नैतिक दर्शन को स्वयं अपने आधार पर खड़े होना होगा। सामान्यतया यह माना जाता है कि मनुष्य किसी लोकातीत सत्ता के कारण ही नैतिक हो सकता है और इसी लिए धर्म को नैतिकता का स्रोत माना जाता रहा है। राय के अनुसार इस का तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य को नैतिक होने के लिए किसी-न-किसी मानवेतर शक्ति को मानना और अपने को उस के अधीन करना होगा। दूसरे शब्दों में, मनुष्य मनुष्य के रूप में नैतिक नहीं हो सकता। राय का कहना है कि यह एक प्रकार की आध्यात्मिक दासता है और इस बोध के साथ मनुष्य कभी वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्र नहीं हो सकता। राय इसी प्रकार इस धारणा का भी निषेध करते हैं कि मनुष्य सामाजिक बाध्यता के कारण नैतिक होता है। यह नैतिकता का उपयोगितावादी सिद्धान्त है। इस का निहितार्थ यह होता है कि यदि उपयोगिता न हो तो नैतिकता को तिलांजलि भी दी जा सकती है। तात्पर्य यह कि ऐसे में नैतिकता की कोई वस्तुपरक कसौटी नहीं रहती।

राय की प्रसिद्ध मान्यता है कि यह ब्रह्माण्ड एक नियमशासित व्यवस्था है—इन नियमों का ज्ञान ही तो विज्ञान है और मनुष्य का विकास इस नियमशासित ब्रह्माण्ड से ही हुआ है। इस लिए मनुष्य सारतः एक विवेकशील प्राणी है और मनुष्य की नैतिकता का आधार उस की यह विवेकशीलता है। राय मानते हैं कि विवेक जैविक आधार पर टिका है। मनुष्य में बुद्धि की अभिव्यक्ति एक जैविक प्रक्रिया है और बुद्धि पर आधारित होने के कारण विवेक भी। विवेक मनुष्य की स्वतन्त्रता का विस्तार है और स्वतन्त्रता जैविक संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है—एक उच्चतर अभिव्यक्ति। मनुष्य को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ता है और *स्वतन्त्रता की तलाश बुद्धि और भावना के उच्च स्तर पर अस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है*। इस लिए मानवीय स्वतन्त्रता एक नैतिक मूल्य है।

लेकिन राय स्वतन्त्रता की ही तरह सहकार को भी ऐसा ही नैतिक मूल्य मानते हैं जिस का आधार जैविक है। राय के अनुसार समाज का विकास आपसी संघर्ष के आधार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर नहीं बल्कि सहकार के आधार पर हुआ है क्यों कि सहकार के बिना समाज के रूप में मनुष्य का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। यह आश्चर्यजनक है कि दार्शनिक रुझानों में भिन्नता के बावजूद राय यहाँ गाँधीजी से सहमत होते नज़र आते हैं क्यों कि गाँधीजी के अनुसार भी लड़ाई के बल के बजाय प्रेम का बल ही समाज के टिके रहने का आधार है। जैविक प्रक्रिया से उत्पन्न होने के कारण जिस तरह स्वतन्त्रता एक प्राकृतिक नैतिक मूल्य है, उसी प्रकार सहकार भी।

कुछ लोगों को यह विरोधाभास लग सकता है कि वैज्ञानिक अवधारणाओं को अपने चिन्तन का स्रोत मानते हुए भी राय तकनीकी विकास से मनुष्य को निर्देशित करना नहीं चाहते—बल्कि वह तकनीकी को मनुष्य के नियन्त्रण में रखना चाहते हैं। इस बिन्दु पर भी वे महात्मा गाँधी और शुमाकर के करीब नज़र आते हैं। वह ऐसी तकनीकी और अर्थव्यवस्था की परिकल्पना करते हैं जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को अपना लक्ष्य मानती हो—सभी व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य को क्यों कि जनता की आर्थिक मुक्ति के बिना मानव स्वातन्त्र्य के लक्ष्य को नहीं पाया जा सकता। इसी लिए राय यह स्पष्ट कर देते हैं कि अर्थव्यवस्था को सहकारमूलक होना चाहिए जिस में मुनाफ़े के लिए उत्पादन और नियन्त्रण के केन्द्रीकरण का स्थान नहीं होगा। आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का लाभ उठाते हुए *सरप्लस वैल्यू* का समतापरक वितरण और सामाजिक सेवाओं का विस्तार उस का प्रयोजन होना चाहिए। राय यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि तकनीकी कुशलता के नाम पर आर्थिक क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वातन्त्र्य को जोखिम में नहीं डाला जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राय राजनीति ही नहीं अर्थव्यवस्था से भी एक नैतिक व्यवस्था होने की माँग करते हैं और पूँजीवाद के किसी भी रूप—वर्तमान वैश्वीकरण को भी एक अनैतिक व्यवस्था मानते हैं।

नैतिकता का यह आग्रह ही राय के चिन्तन को एक विशिष्ट भारतीय चरित्र देता है, चाहे उस का आधार किसी रहस्यवादी अनुभूति के बजाय वैज्ञानिक चिन्तन में ही क्यों न हो। इसी बिन्दु पर विनोबा का स्मरण हो आता है जो विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय का आग्रह करते थे। क्या राय एक विज्ञानसम्मत आध्यात्मिकता का प्रस्ताव कर रहे और उसी से प्रेरित सामाजिक व्यवस्था में मनुष्यता के संकट का समाधान तलाश कर रहे थे? गाँधीजी तो नैतिक को ही आध्यात्मिक मानते थे। यह उल्लेखनीय है कि राय भी कई स्थलों पर *आध्यात्मिक स्वतन्त्रता* पद का प्रयोग करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अध्यात्म की वैज्ञानिकता का अर्थ : विनोबा

विनोबा द्वारा आपातकाल को अनुशासन पर्व की संज्ञा देने से किसी भी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता क्यों कि चाहे विनोबा का जो भी प्रयोजन रहा हो किन्तु उन के उस वक्तव्य से आपातकाल को एक नैतिक समर्थन तो मिलता ही था और वह भी एक ऐसा समर्थन जिस का नैतिक-आध्यात्मिक व्यक्तित्व न केवल निर्विवाद था, बल्कि जो जयप्रकाश नारायण के साथ अभिन्न समझा जाता था। यही कारण रहा कि आपातकाल का विरोध करने वाले अधिकांश तत्त्व न केवल विनोबा से क्षुब्ध हुए बल्कि उन से दूर भी होते चले गये—जब कि उन में से अधिकांश के मन में उन के व्यक्तित्व और प्रयोगों के प्रति श्रद्धा का भाव रहा था। इस के विपरीत, आपातकाल का समर्थक माने जाने वाले तत्त्वों में तो पहले से ही विनोबा के विचारों और प्रयोगों के प्रति उपेक्षा नहीं बल्कि उपहास का भाव रहा था। इस लिए विनोबा के वक्तव्य का एक अवांछित और दूरगामी परिणाम यह हुआ कि उन के विचारों और प्रयोगों में रुचि रखने वालों में भी उन के प्रति एक गहरा उपेक्षा-भाव विकसित होता चला गया। इस लिए मनोवैज्ञानिक नज़रिए से यह स्वाभाविक ही लगता है कि आज अपनी समस्याओं पर विचार करते समय विनोबा के रास्ते पर ग़ौर करने का ख़याल भी हमारे मन में नहीं आता—केवल *ऑफिशियल* विनोबावादियों को छोड़ कर।

यह आश्चर्यजनक है कि आपातकाल को भूल कर आज उस के समर्थक और विरोधी तत्त्व साथ होने के प्रयत्न करते नज़र आ रहे हैं, लेकिन विनोबा की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता जब कि विनोबा के विचार आज की परिस्थिति में पहले से भी अधिक प्रासंगिक दिखायी देते हैं। इस का ख़मियाज़ा विनोबा को नहीं, हमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उठाना पड़ रहा है, किन्तु विनोबा क्यों कि अभेद के सिद्धान्त को मानते थे, इस लिए प्रकारान्तर से उन्हें भी। साम्प्रदायिक विद्वेष और उस से उत्पन्न हिंसा आज देश की सर्वाधिक गम्भीर समस्या है क्यों कि अन्य समस्याओं को हल कर लेने पर भी उस का कोई समाधान नज़र नहीं आता। अन्य समस्याओं को तो व्यावहारिक योजनाओं और कार्यक्रमों के माध्यम से काफ़ी हद तक दूर किया भी जा सकता है, लेकिन साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध किसी व्यावहारिक परिस्थिति से कम और हमारी मानसिक बनावट से अधिक है। मन्दिर-मस्जिद विवाद या ऐसे अन्य मसलों से साम्प्रदायिकता पैदा नहीं होती, बल्कि साम्प्रदायिक भावना के कारण ये मसले पैदा होते हैं। इस लिए यदि किसी एक मसले का किसी प्रकार कोई हल निकल भी जाता है तो वैसे ही या किसी प्रकार के अन्य साम्प्रदायिक मसले फिर खड़े हो सकते हैं, जब तक हम अपने मन से ही इस भावना को निर्मूल नहीं कर देते।

दरअस्ल, साम्प्रदायिकता की भावना पैदा होती है एक आध्यात्मिक प्रक्रिया को एक धर्मतन्त्र में बन्द कर देने से। अध्यात्म का तो तात्पर्य ही है अस्मिता अर्थात् अहंकार के बोध से मुक्ति। ईश्वर अथवा किसी भी परम तत्त्व को अस्मिता का समर्पण अथवा उस में अस्मिता के विलय की प्रक्रिया ही तो अध्यात्म है। लेकिन जब हम उस प्रक्रिया के स्थूल स्वरूप को भी एक नाम दे देते और उसे एक तन्त्र मान लेते हैं, तो वही हमारी अस्मिता हो जाता है। इसी लिए विनोबा अध्यात्म की एक ऐसी संकल्पना और व्याख्या करते हैं जिस में विभिन्न धर्मपन्थों में किसी कृत्रिम समन्वय के बजाय उन से मुक्ति की बात प्रधान हो जाती है और इस पन्थ-मुक्ति को धर्मविरोधी भी नहीं कहा जा सकता। विनोबा की मान्यता थी कि राजनीति और धर्मपन्थों के दिन अब लद गये हैं। उन्हीं के शब्दों में *भिन्न-भिन्न धर्मों की जगह अध्यात्म आना चाहिए और राजनीति की जगह विज्ञान आना चाहिए, तब काम होगा।* एक अन्य प्रसंग में उन्होंने अध्यात्म और विज्ञान के योग को ही सर्वोदय कहा है।

सामान्यतः, अध्यात्म का प्रयोजन आत्म-ज्ञान और उस के माध्यम से मुक्ति, निर्वाण या *साल्वेशन* आदि माना जाता है। विनोबा भी आत्मज्ञान-वादी माने जाते हैं, लेकिन *आत्म* की उन की व्याख्या बहुत मौलिक और भिन्न है। विनोबा का तर्क है कि यदि यह समूची सृष्टि *ब्रह्म* आदि किसी परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है तो इस में व्यक्त किसी भी रूप का किसी अन्य रूप से कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। न केवल यह कि एक रूप दूसरे रूप के समान है, बल्कि वह उस से अभिन्न भी है। इस का दार्शनिक निष्कर्ष यह होता है कि जब तक *सभी कुछ* की मुक्ति न हो, तब तक किसी एक रूप की मुक्ति भी सम्भव नहीं है। इस लिए जब तक कोई किसी अन्य को अपने से निकृष्ट या हीन तो दूर पराया भी मानता है, तब तक उसे अपने वास्तविक आत्म का ज्ञान नहीं हो सकता। इस का सीधा तात्पर्य यह है कि जो भी विचार या कार्य हमें किसी अन्य के प्रति आक्रामक या हिंसक तो क्या उस से पृथक् भी करता है, वह वास्तविक अर्थों में एक धर्मविरोधी कार्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है। इस लिए अपनी पृथक् अस्मिता पर अतिरिक्त आग्रह भी वस्तुतः एक धर्मविरोधी आग्रह है—चाहे वह धर्म के नाम पर ही क्यों न किया जा रहा हो। वह धर्म का अध्यात्म नहीं, वरन् धर्म की राजनीति है या यों भी कह सकते हैं कि वह अध्यात्म का धर्म नहीं बल्कि राजनीति का अधर्म है।

अध्यात्म जुड़ने-जोड़ने की अनवरत प्रक्रिया है और राजनीति की बुनियाद ही पृथक्ता के बोध पर खड़ी होती है। महात्मा गाँधी या विनोबा जैसे लोग जब राजनीति के अध्यात्मीकरण की बात करते हैं तो उन का आशय राजनीति को पृथक्ता या भेद के बजाय अभेद की बुनियाद पर खड़ा करना होता है। ऐसा नहीं है कि समाज में भेद नहीं हैं। वे हैं, लेकिन राजनीति का प्रयोजन उन्हें बढ़ाना नहीं बल्कि उन्हें कम करते हुए अभेद की ओर बढ़ना होता है। राजनीति के धर्म—वास्तविक धर्म—द्वारा निर्देशित होने का यही एकमात्र अर्थ हो सकता है। लेकिन जब वह धर्म के नाम पर भेद को बढ़ाने लगती है तो वस्तुतः वह धर्मानुकूल होने के बजाय स्वयं धर्म को निर्देशित-नियन्त्रित करने लगती है। धर्म के नाम पर किये जाने वाले विवाद वस्तुतः धर्मविरोधी राजनीति के द्वारा अपनी भेदमूलक प्रक्रिया को बढ़ाने के उपाय हैं, इस लिए वास्तव में वे धर्मविरोधी उपाय हैं, अधर्म हैं। कहा जा सकता है कि व्यवहार में पूर्ण अभेद सम्भव नहीं है और जब तक कुछ भेद है, तब तक कुछ-न-कुछ तनाव रहेगा ही। एक देह से दूसरी देह व्यवहार में अलग है तो असमानता या पृथक्ता तो रहेगी ही। लेकिन इस व्यावहारिक अलगाव को स्वीकार करते हुए भी जब मैं भावना के स्तर पर इसे दूर करने की कोशिश करता हूँ—अन्य के साथ समानता या अहिंसा का व्यवहार करता हूँ—तो दरअस्ल मैं अभेद की ओर, अध्यात्म की ओर बढ़ रहा होता हूँ किन्तु जब मैं इस भेद को वास्तविक मान कर उसे बढ़ाता और अन्य को अपने अनुसार चलाने की कोशिश करता हूँ तो वहाँ धर्मविरोधी राजनीति के जाल में फँस रहा होता हूँ। धर्महीन राजनीति को महात्मा गाँधी ने इसी लिए कलह बताया था।

मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है—दुखद आश्चर्य—कि जिस बात को विनोबा जैसे सन्त ने इतने स्पष्ट रूप से देख-समझ लिया था, उसे हमारे आज के सन्त-महात्मा क्यों नहीं समझ पा रहे हैं। केवल राजनीति करने वाले लोग अपनी सत्ताकांक्षा में समाज में भेद को बढ़ाना चाहें, यह अवांछनीय होते हुए भी समझ में आ सकने वाली बात है। लेकिन जिन सन्तों-महात्माओं ने सम्पूर्ण जगत् को एक ही परम तत्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है, वे यदि इस राजनीति के माध्यम या शिकार हो रहे हैं, तो यह निश्चय ही अधिक चिन्तित करने वाली बात है। इस से तो यही सिद्ध होता लगता है कि सन्त-महात्मा भी आत्म-ज्ञान की नहीं, विकृत चित्तवृत्तियों की राह पर हैं जब कि गीता *चित्तवृत्तिनिरोध* को आत्मज्ञान की पहली अनिवार्य परिस्थिति मानती है। वेदान्त में *पारमार्थिक सत्य* के साथ-साथ *व्यावहारिक सत्य* की भी मान्यता है, लेकिन जिसे हम *व्यावहारिक सत्य* मानते हैं, जब वह पारमार्थिक सत्य के मार्ग का साधन बनने के बजाय उस की बाधा बनने लगे तो उस के *सत्य* होने पर सन्देह होने लगता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दरअस्ल, जिसे हम *व्यावहारिक सत्य* कहते हैं, वह पारमार्थिक सत्य का व्यावहारिक रूप होना चाहिए—इसी लिए तो अन्न को भी ब्रह्म कहा गया है। लेकिन *पारमार्थिक सत्य* के आचरणगत रूप का अर्थ नैतिकता है और वेदान्त की दृष्टि में नैतिक आचरण वह है जो अभेद के भाव से प्रेरित और उस की ओर प्रवृत्त हो। इस का सीधा तात्पर्य यह है कि हमारी सभी प्रकार की समस्याओं का हल अभेदमूलक नीति से किया जाना चाहिए। अहिंसा इस अभेदमूलक नीति का व्यावहारिक या आचरणगत रूप है। विनोबा की विशेषता इस बात में है कि वह अध्यात्म को भी एक अनवरत प्रक्रिया मानते हैं। उन का कहना है कि जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक सत्य को अन्तिम रूप से जान लेने का दावा नहीं कर सकता, उसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में भी अन्तिम रूप से कोई दावा नहीं किया जा सकता। यह विचार अधिकांश अध्यात्मवादियों से भिन्न एवं मौलिक है क्यों कि सभी आध्यात्मिक-धार्मिक गुरु सत्य को अन्तिम रूप से जानने का दावा करते रहे हैं और उन के अनुयायी उन के इस दावे से भिन्न किसी भी बात को सत्य से भिन्न मानने का आचरण करते रहे हैं।

विनोबा का कहना है कि *जिस प्रकार विज्ञान के सामने असम्भव ध्येय है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के सामने भी होना चाहिए।* सत्यान्वेषण की यह प्रकृति ही वास्तविक अध्यात्म है जिस का सामाजिक रूप अहिंसा है। इस लिए जो भी बात हमें इस बात से विमुख करती हो, वह धर्मविरोधी है—चाहे उस का प्रचार धर्म की रक्षा के नाम पर भी क्यों न हो रहा हो। क्या हमारे धर्मवेत्ता इतना भी नहीं समझेंगे और धर्म को राजनीति का हथियार होने देते रहेंगे? यहाँ विनोबा का यह विचार भी ध्यातव्य है कि किसी की मुक्ति अकेले नहीं हो सकती—आध्यात्मिक कही जाने वाली मुक्ति भी। इसी लिए विनोबा *व्यक्तिगत समाधि* के बजाय सामाजिक समाधि की बात करते हैं। वह यह भी मानते हैं कि इसी लिए व्यक्ति केवल अपने कर्मों का परिणाम ही नहीं भोगता—वह अन्य के कर्मों से भी प्रभावित होता और उस के परिणाम भोगता है क्यों कि जीवन अखण्ड है। विज्ञान में विनोबा की आस्था उन्हें यह मानने को प्रेरित करती है कि यह विश्व एक नियम-शासित अर्थात् विवेकपूर्ण व्यवस्था है। अभेद और अखण्डता का स्वीकार ही इस विवेक का प्रमाण है। जो लोग भेद पैदा करने का प्रयास करते हैं, वे धर्म ही नहीं, विज्ञान की दृष्टि से भी जीवनविरोधी अर्थात् मानवविरोधी आचरण कर रहे हैं—फिर इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वे ऐसा धर्म के नाम पर करते हैं या राजनीति के नाम पर। जो लोग धर्म-दृष्टि का दावा करते हैं और जो लोग वैज्ञानिक दृष्टि का भ्रम पाले हुए हैं, उन सब को विनोबा की इस बुनियादी बात को समझना चाहिए क्यों कि जीवन के अभेद का स्वीकार ही धार्मिकता है और वही वैज्ञानिकता भी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

गाँधी और राय के संवाद की ज़रूरत

अपने समय के जिन मौलिक भारतीय विचारकों की लगभग अवहेलना की जाती रही है, उन में मानवेन्द्रनाथ राय शायद सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। किसी समय अन्तरराष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की शिखर-पंक्ति में आसीन और अनन्तर मार्क्सवाद से मोहभंग के परिणामस्वरूप एक नयी राजनीतिक चिन्तन धारा का प्रस्ताव करने वाले एम.एन. राय की ओर हमारी राजनीतिक और अकादमिक दुनियाओं का ध्यान न जाना विडम्बनापूर्ण आश्चर्य है। जिन तीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने सोवियत साम्यवाद की कथित महान् सफलता से लगभग अप्रभावित रहते हुए अन्ततः उस के ध्वंस का पूर्व दर्शन कर लिया था उन में महात्मा गाँधी और डॉ. राममनोहर लोहिया के साथ एम.एन. राय भी थे। गाँधीजी की मूल दृष्टि आध्यात्मिक थी, जब कि एम.एन. राय मूलतः एक भौतिकवादी विचारक थे—जो वह साम्यवाद से मोहभंग के बावजूद अन्त तक रहे—लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि अपनी ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा में गाँधीजी से मौलिक भिन्नता के बावजूद राय की मूल्य-मीमांसा उन्हीं मूल्यों और आचरण को प्रस्तावित करती है जिन के आधार पर गाँधीजी एक अहिंसक समाज अर्थात् *स्वराज* का सपना देखते हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता, उस के नैतिक उत्कर्ष और उस के लिए अपरिहार्य जिस राजनीतिक-आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ज़रूरत पर गाँधी ज़ोर देते हैं, एक भिन्न भाषा में राय भी लगभग उसी तरह के विकल्प की बात करते हैं। सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन के दौर में जयप्रकाश नारायण के विचारों और प्रस्तावित राजनीतिक-आर्थिक विकल्पों की तलाश में महात्मा गाँधी और एम.एन. राय का एक समन्वय देखा जा सकता है। यह आश्चर्यजनक लगता है कि भिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रसूत होने के बावजूद गाँधीजी और राय के कार्यक्रम में इतनी समानता क्यों है? इस का कारण कहीं यह तो नहीं कि दार्शनिक मतभेदों के बावजूद गाँधीजी और राय, दोनों, मनुष्य को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मूलतः विवेकशील और नैतिक प्राणी मानते हैं और इस लिए जब वे दोनों एक नैतिक समाज का स्वप्न देखते हैं तो वह स्वप्न अपने चरित्र में लगभग एक-सरीखा रूप ग्रहण कर लेता है।

मार्क्सवाद से राय के मोहभंग का कारण केवल सोवियत संघ में स्टालिन-काल का दमन-चक्र ही नहीं था, बल्कि उन का विरोध कहीं गहरा और दार्शनिक स्तर पर था। मार्क्सवाद अपने को कोई विचारधारा नहीं बल्कि एक *वैज्ञानिक दर्शन* मानता है और द्वन्द्वात्मकता को एक वैज्ञानिक नियम मानते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या करता है। यह आश्चर्यजनक लगता है कि राय से पूर्व मार्क्सवाद के किसी आलोचक ने उस के वैज्ञानिकता के इस दावे का साँगोपाँग परीक्षण और विश्लेषण नहीं किया। मूलतः एक निष्ठाशील भौतिकवादी होने के कारण राय भी वैज्ञानिकता को तो केन्द्रीय महत्त्व देते हैं, लेकिन वह इस प्राकृतिक जगत् को द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि एकात्मक मानते तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की जगह *एकात्मक भौतिकवाद* को स्थापित करते हैं। उन की यह प्रस्थापना *ग्रीन आन्दोलन* के उस केन्द्रीय आधार की पूर्व-कल्पना है जिसे *इकॉलाजिकल विजडम* कहा गया है। यह पूरा अस्तित्व एक और अन्तस्सम्बन्धित है तथा इस एकत्व की ओर बढ़ने के मानवीय प्रयास को ही इतिहास कहा जा सकता है। राय इसी लिए द्वन्द्वात्मक संघर्ष को नहीं बल्कि सहकार को सामाजिक विकास की प्रेरक प्रवृत्ति मानते हैं। राय मानते हैं कि मनुष्य का प्राथमिक सरोकार उस का अपना अस्तित्व है और इस लिए उस में एक स्वार्थ-वृत्ति है, लेकिन उस की यह स्वार्थ-वृत्ति अपना ही अतिक्रमण करने के सामर्थ्य को भी मनुष्य में विकसित करती है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो *वर्ग-संघर्ष इस तथ्य की अनदेखी करता है कि सहकार सदैव ही एक दृढ़तर सामाजिक कारक रहा है। अन्यथा, सभ्यता के प्रारम्भ में ही समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता।* राय का यह कथन लगभग वैसी ही इतिहास-दृष्टि और उस से प्रसूत समाज-दृष्टि की व्यंजना करता है जो *हिन्द स्वराज* में महात्मा गाँधी के कथन से व्यंजित होती है। गाँधीजी कहते हैं : *अगर दुनिया की कथा लड़ाई से शुरू हुई होती, तो आज एक भी आदमी ज़िन्दा न रहता... दुनिया लड़ाई के हंगामों के बावजूद टिकी हुई है। इस लिए लड़ाई के बल के बजाय दूसरा ही बल उस का आधार है। हज़ारों बल्कि लाखों लोग प्रेम के बल रह कर अपना जीवन बसर करते हैं। ...जब इस दया की, प्रेम की और सत्य की धारा रुकती है, टूटती है, तभी इतिहास में वह लिखा जाता है।* राय और गाँधीजी में फ़र्क़ इतना ही है कि दया और प्रेम आदि भावात्मक पद हैं, जब कि *सहकार* कुछ अधिक व्यावहारिक एवं सांस्थानिक। लेकिन आपसी सहकार समाज का निर्धारक नियम है, इसे दोनों ही स्वीकार करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि अपने मार्क्सवादी दौर में सार्त्र ने भी मार्क्स की वर्ग-संघर्ष की धारणा की जगह *अभाव के विरुद्ध संघर्ष* की धारणा को प्रस्थापित करने का प्रयास किया है और उसी को अन्तःवर्गीय सहकार का कारण माना है। सार्त्र जिसे *अभाव के विरुद्ध संघर्ष* कहते हैं, उसी को राय ने *स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष* कहा है क्यों कि उन के अनुसार स्वतन्त्रता की तलाश आदिम मनुष्य के अस्तित्व के लिए संघर्ष का ही जारी रहना है। इस रूप में वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति की बुनियादी प्रेरणा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

है। स्वतन्त्रता मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक और सर्जनात्मक सामर्थ्य के विकास को बाधित करने वाले भौतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक, सभी कारणों का क्रमशः लोप होते जाना है।

मानवीय स्वातन्त्र्य साम्यवाद का लक्ष्य नहीं रह गया है, यह बात राय ने साम्यवादी सफलता के दौर में ही अनुभव कर ली थी। राय मैक्सिको में साम्यवादी दल के संस्थापक, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के मोलिब्यूरो के सदस्य तथा चीन में बोरोदिन के साथ साम्यवादी आन्दोलन के संगठन का काम करने वाले नेता थे। उन की थीसिस को लेनिन की थीसिस से असहमति के बावजूद समान्तर स्वीकृति मिली थी। लेकिन इतनी प्रतिष्ठा के बावजूद उन की बौद्धिक प्रखरता और निष्ठा ने उन्हें अपना ही अतिक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। एक सच्चे बौद्धिक की पहचान यह होती है कि वह बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण मानता और अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा की परवाह किये बिना अपने पूर्व-निष्कर्षों को बुद्धिसम्मत न होने पर ख़ारिज कर सकता है। अज्ञेय इसी लिए राय को आधुनिक भारत का एकमात्र बौद्धिक मानते थे—अन्य लोग उन की राय में *ग्रेट इंटेलेक्ट* तो हैं, पर *इंटेलेक्चुअल* नहीं।

लेकिन साम्यवाद से मोहभंग राय को पूँजीवाद की ओर नहीं ले गया क्यों कि वहाँ भी मानवीय व्यक्तित्व तथा स्वातन्त्र्य के दमन और उत्पीड़न का एक दूसरा रूप क्रियाशील रहता है। साम्यवाद की असफलता पूँजीवाद को वरेण्य नहीं बना देती। साम्यवादी व्यवस्था की असफलता के कारण पूँजीवाद की उस की आलोचना को अवैध नहीं माना जा सकता। पूँजीवाद में जिन मानव-मूल्यों और मानवीय संवेदना का क्रमशः विलोपन देखा गया है, वह अब भी ग़लत नहीं है बल्कि आज का बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद और उस का प्रेरक उपभोगवाद पूँजीवाद की समाजवादी आलोचना को और भी अधिक प्रासंगिक बना रहा है। इस लिए पूँजीवाद और उस से प्रसूत राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के विकल्प की तलाश और भी अधिक अपरिहार्य हो जाती है और इस तलाश की प्रक्रिया में महात्मा गाँधी के साथ-साथ एम.एन. राय जैसे विचारकों की ओर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता और भी अधिक महसूस होती है। इस लिए यह विस्मयकारी होते हुए भी स्वाभाविक लगता है कि इस तलाश में राय गाँधीजी के सहयात्री हैं।

गाँधीजी की तरह ही राय भी संसदीय लोकतन्त्र या उस में प्रतिनिधि सत्तात्मक व्यवस्था को मानवीय स्वातन्त्र्य और नैतिक उत्कर्ष के लिए बाधक ही मानते हैं और इस लिए वह एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना करते हैं जो पूरी तरह विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही है कि राय एक पिरामिडाकार संरचना की प्रस्तावना करते हैं जब कि महात्मा गाँधी की कल्पना एक *महासागरीय वलय* के रूपक का सहारा लेती है। लेकिन *महासागरीय वलय* के रूपक में कोई उच्चावच क्रम नहीं है। उस में सम्प्रभुता का एक *क्षैतिजिक विस्तार* प्रतिफलित होता है जब कि राय का रूपक अपने में अन्तर्निहित लोकतान्त्रिकता के बावजूद एक प्रकार की ऊर्ध्वाधरता अथवा उच्चावच क्रम पर आधारित है। लेकिन यह विस्मयजनक है कि भौतिकवादी और विज्ञानवादी होने के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बावजूद—बल्कि शायद उसी के कारण—राय प्रचलित प्रौद्योगिकी के मानव-विरोधी चरित्र को पहचानते और एक ऐसी उत्पादन-पद्धति को मान्य करते हैं जो आर्थिक सत्ता के किसी भी प्रकार के केन्द्रीकरण को अमान्य करती और इस प्रकार प्रकारान्तर से एक अलग प्रकार की ऐसी समाजवादी व्यवस्था का प्रस्ताव करती है, जिस से गाँधीजी की भी कोई असहमति नहीं हो सकती थी। इस लिए यह कुछ क्षोभजनक लगता है कि अपनी मूल्य-मीमांसा और कार्यक्रमों में इतने क़रीब होते हुए भी दोनों विचारकों के बीच किसी संवाद की आवश्यकता का अनुभव हमारे अकादमिक और राजनीतिक जगत् को नहीं हुआ। शायद जयप्रकाश नारायण ही एकमात्र व्यक्तित्व हैं जिन में इन दोनों विचारकों का एक समन्वय प्रतिविम्बित होता है, लेकिन इस समन्वय का एक सुदृढ़ दार्शनिक-बौद्धिक आधार विकसित करने की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिये जाने की ज़रूरत का अनुभव कम से कम उन बौद्धिकों को तो होना ही चाहिए जो प्रचलित आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के विकल्प की तलाश में सक्रिय हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

निर्दलीय लोकतन्त्र ही विकल्प है

एक अरसे से केन्द्र और कई राज्यों में मिली-जुली या संविद सरकारों का शासन चल रहा है। सन् सड़सठ के चुनावों में भी कई राज्यों में संविद सरकारें बनी थीं और जनता पार्टी का शासन भी एक प्रकार से संविद सरकार का शासन ही समझा जाना चाहिए—यद्यपि औपचारिक रूप से वह एक पार्टी थी, लेकिन हक़ीक़त में वह कई दलों का एक समूह थी। और जब वह टूटने लगी तो टूट कर अलग बनने वाले दलों की संख्या उन दलों से कहीं अधिक हो गई—जिन्हें मिला कर वह बनी थी। पिछली भाजपा नीत सरकार में भी कई ऐसे दल शामिल थे जो जनता पार्टी से टूट कर बने थे और ऐसे ही कई दल इस नई कांग्रेस नीत सरकार में शामिल हैं। स्पष्ट है कि इन दलों की घोषित नीतियों में कोई विशेष बुनियादी अन्तर नहीं है। इन में से अधिकांश दल वस्तुतः कुछ नेताओं की व्यक्तिगत छवि और उन के कुछ अनुयायियों के समर्थन के बल पर अस्तित्व में हैं।

ये नेता किन्हीं सिद्धान्तों और नीतियों की बजाय निजी सुविधा और अपनी सत्ताकांक्षा की पूर्ति के लिए अन्य दलों के साथ मिल कर सरकार बनाते या विपक्ष में रहते हैं। कभी-कभी राष्ट्रीय स्वाभिमान मंच जैसे कुछ अनौपचारिक संगठन भी खड़े हो जाते हैं जिन में बिना किसी दलीय प्रतिबद्धता के कोई भी शामिल हो सकता है। बड़े दलों में भाजपा और भाकपा-माकपा ही कुछ हद तक कुछ स्पष्ट सिद्धान्तों पर आधारित कहे जा सकते हैं। कांग्रेस जैसा बड़ा दल भी अन्ततः व्यक्ति-केन्द्रित रहा है और है। लेकिन भाजपा और कांग्रेस की आर्थिक नीतियों में कोई फ़र्क़ नहीं है और समाजवादी कार्यक्रम में घोषित आस्था के बावजूद वामपंथी कहे जाने वाले दलों ने भी जैसे आर्थिक भूमण्डलीकरण और उदारीकरण को अपने भविष्य के रूप में स्वीकार कर लिया है। सवाल यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उठता है कि एक राजनीतिक दल किन्हीं सिद्धान्तों और एक विशेष राजनीतिक दृष्टि के आधार पर गठित होता है अथवा वह कुछ सत्ताकामियों का एक समूह है—चाहे उन के कोई स्पष्ट राजनीतिक सिद्धान्त न भी हों? लेकिन ऐसे सत्ताकामी लोगों के समूहों के आपस में मिल-जुल कर सरकार बना लेने को क्या वास्तविक अर्थों में संसदीय लोकतन्त्र कहा जा सकता है? क्या यह वास्तव में एक प्रकार का दलविहीन लोकतन्त्र ही नहीं है, जिस में बिना किसी वास्तविक सैद्धान्तिक मतभेद अथवा सहमति के कुछ व्यक्तियों के समूहों ने मिल कर एक सरकार बना ली है और चला रहे हैं?

यहाँ इस बात पर भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि इन दलों के सरकार चलाने के तरीक़ों में भी कोई भेद नहीं है। विभिन्न राज्यों और केन्द्र में सरकारों के परिवर्तन के बावजूद न तो शासन की नीतियों में कोई फ़र्क़ दिखाई देता है और न उन के तरीक़ों में। केन्द्र और राज्यों में इतनी सरकारों के परिवर्तन के बावजूद टिहरी और हरसूद जैसी त्रासदियों को नहीं टाला जा सका और न टिहरी और सरदार सरोवर बाँध के निर्माण को रोका अथवा विस्थापितों की समस्याओं को कारगर ढंग से सुलझाया जा सका। क्या इस का अर्थ यह है कि जन-प्रतिनिधि नहीं, बल्कि एक प्रशासन तन्त्र ही वास्तविक शासक है जिस की नीतियों और तरीक़ों पर शासक दल के परिवर्तन के बावजूद कोई वास्तविक असर नहीं पड़ता?

यदि दलों का कोई वास्तविक महत्त्व नहीं रह गया और अधिकांश जन-प्रतिनिधि कहलाये जाने वाले लोग भी किसी बड़े माने जाने वाले नेता की छाया में ही चुनाव जीतने का सपना पाल सकते हैं—जिस के बिना वे असहाय हैं—तो राजनीतिक दलों की या ऐसे जन-प्रतिनिधियों की वास्तविक ज़रूरत ही क्या है? यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पिछले कई वर्षों से कोई भी सार्थक राजनीतिक संघर्ष या आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल द्वारा नहीं किया गया है। सभी जन-समस्याओं के लिए संघर्ष करने वाले कई छोटे-बड़े संगठन हैं, जिन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। समस्या चाहे पर्यावरण की हो, किसानों की हो या मानवाधिकारों के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित हो, उन के लिए संघर्ष में राजनीतिक दल कहीं नहीं दिखायी देते। सैद्धान्तिक तौर पर बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद का विरोध करने वाले वामपंथी राजनीतिक दलों ने भी संसद में औपचारिक विरोध के अलावा किसी बड़े जन-संघर्ष का आयोजन नहीं किया है। वक्तव्य जारी कर देना अथवा संसद में बहिष्कार आदि किसी जन-संघर्ष का स्थान नहीं ले सकते।

तो क्या ऐसा समय नहीं आ गया है कि हमें निर्दलीय लोकतन्त्र की उन अवधारणाओं की ओर देखना चाहिए जिन का प्रस्ताव एम.एन. राय और जयप्रकाश नारायण जैसे विचारकों ने किया था? वास्तव में आज संविद सरकारों की जो व्यवस्था है—और जिस से कोई मुक्ति अब दीखती नहीं—वह भी एक प्रकार का *दलोत्तर लोकतन्त्र* ही है जिस में सैद्धान्तिक दलीय निष्ठा का नितान्त अभाव है। लेकिन इस *दलोत्तर* व्यवस्था में न तो दलीय व्यवस्था का कोई गुण है और न निर्दलीय लोकतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

का ही। यह दोनों के दूषणों का समवाय है। क्या इस से बेहतर यही नहीं होगा कि हम निर्दलीय लोकतन्त्र की दिशा में विचार करें ताकि किसी बड़े व्यक्तित्व के चाटुकारों के बजाय हमें ऐसे प्रतिनिधि मिल सकें जो जन-संघर्ष में तप कर निकले हों और जिन की नैतिक निष्ठा सन्देह से परे हो?

दलीय लोकतन्त्र में दल ऐसे व्यक्तियों को अपना प्रत्याशी बनाते हैं जो जनता की समस्याओं के लिए नहीं, दल या उस के नेता के लिए लड़ते हों। यदि कोई चरित्रवान निर्दलीय प्रत्याशी मैदान में होता भी है—जो कभी अपवादस्वरूप जीत भी जाता है—तो भी अधिकांशतः मतदाता उन्हें यह समझ कर मत नहीं देता कि दलविहीन होने के कारण वह न तो सरकार में ही शामिल हो सकेगा और न प्रभावी विपक्ष की भूमिका ही निभा पाएगा। वह चुन लिये जाने पर भी राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली न होने की वजह से सरकारी स्तर पर जन-समस्याओं को सुलझाने में वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसी कारण मतदाता ऐसे प्रत्याशियों के व्यक्तिगत गुणों और चारित्रिक निष्ठा के प्रशंसक होते हुए भी राज्य में उसे अपना प्रतिनिधि चुनने के काबिल नहीं मान पाते।

लेकिन यदि हम निर्दलीय लोकतन्त्र की कोई व्यवस्था करते हैं तो शायद विधानमण्डलों और संसद में ऐसे लोग अधिक संख्या में चुन कर आ सकते हैं जिन्होंने अपने को जन-संघर्ष में तपाया हो, जनता जिन के गुणों और नेतृत्व की प्रशंसक हो और जिन के चरित्र और निष्ठा व्यावहारिक कसौटियों पर खरे उतर चुके हों। हो सकता है कभी जाति या सम्प्रदाय ऐसे चुनाव में भी कुछ भूमिका निभाये, लेकिन वह निर्णायक भूमिका नहीं होगी और एक जाति या सम्प्रदाय के कई प्रत्याशियों के होने के कारण उन में से भी अधिक सही और योग्य प्रत्याशी के चुनाव की सम्भावना ज़्यादा रहेगी।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों की जो कल्पना की गयी है, वह वैसे भी विभिन्न राजनीतिक दलों की ज़रूरत को लगभग समाप्त-सी कर देती है। राज्य के लिए एक विचारधारा और सम्पूर्ण कार्यक्रम संविधान में ही निर्देशित है और किसी भी दल की सरकार से यह उम्मीद किया जाना वाजिब है कि वह अपने शासन की रीति-नीति का निर्धारण उस में वर्णित सिद्धान्तों और कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए करेगी। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत ने अन्य बहुत-सारे देशों के साथ मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणापत्र और सामाजिक-आर्थिक मानवाधिकारों की कई अन्तरराष्ट्रीय संविदाओं पर हस्ताक्षर किये हैं, अर्थात् उन में वर्णित सिद्धान्तों और कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा और प्रतिबद्धता दर्शायी है। मानवाधिकार घोषणापत्र अपने-आप में एक विचार-दृष्टि और सम्पूर्ण कार्यक्रम है। उसे स्वीकार कर लेने पर किसी अन्य राजनीतिक कार्यक्रम की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती—फिर इस से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि सरकार किस दल या विचारधारा की है क्यों कि मानवाधिकार स्वयं एक विचारधारा है, जिस में भारत राज्य अपनी निष्ठा घोषित कर चुका है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एम.एन. राय की मान्यता थी कि *औपचारिक संसदीय लोकतन्त्र उदारवाद को झूठा और विद्रूप कर देता है* तथा मुक्त अर्थव्यवस्था—जो आज अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक भूमण्डलीकरण के नाम पर आयोजित की जा रही है—*मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को विधिक अनुमोदन मात्र प्रदान करती है।* राय मानते हैं कि वर्तमान औपचारिक लोकतन्त्र शक्तिहीन और बिखरे हुए नागरिकों का लोकतन्त्र है। निर्दलीय लोकतन्त्र के लिए वह राज्य की पिरामिडाकार संरचना का प्रस्ताव करते हैं जिस में नागरिकों को अपने संगठन के माध्यम से निर्वाचित प्रतिनिधि को भी वापस बुलाने का अधिकार होगा—यदि वह नागरिकों के हितों की अवहेलना करता या सन्दिग्ध चरित्र का साबित होता है। अभी नागरिकों के पास ऐसी कोई वास्तविक विधि नहीं है, जिस से वे राज्य पर अपना नियन्त्रण रख सकें और देख सकें कि उन के द्वारा प्रदत्त सम्प्रभुता का राज्य ठीक इस्तेमाल कर रहा है या नहीं। निर्दलीय लोकतन्त्र के लिए कई तरह की विधियाँ सोची जा सकती हैं—लेकिन पहली बात यह है कि राजनीतिक दलों से हमारा पूरा मोहभंग हुआ है या नहीं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जैनेन्द्र का गाँधीत्व

जैनेन्द्र के बारे में सामान्य धारणा यह है कि वह कथाकार तो प्रथम कोटि के थे—यद्यपि कुछ लोग जैनेन्द्र के कथाकार के उत्तर-पक्ष को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानते और कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें सम्पूर्णतः ख़ारिज़ करते हैं—लेकिन उन का चिन्तन बहुत ढीला-ढाला था। आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें प्रथम कोटि का कथाकार लेकिन ढीला चिन्तक मानने वाली बात पर हमारे दो ऐसे मूर्धन्य साहित्यकार भी सहमत हैं जिन्हें हिन्दी आलोचना अक्सर विपरीत ध्रुवों पर रख कर देखती रही है। ये दो लेखक हैं अज्ञेय और मुक्तिबोध। मुक्तिबोध ने यह राय रमेशचन्द्र शाह के साथ एक बातचीत में व्यक्त की थी और अज्ञेय ने न केवल स्वयं मुझ से बातचीत में ऐसा कहा, बल्कि उसे अपनी डायरियों में कहीं लिखा भी है। लेकिन पिछले दिनों जैनेन्द्र शतवार्षिकी के सिलसिले में साहित्य अकादेमी द्वारा महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के साथ मिल कर वर्धा में आयोजित संगोष्ठी का बीज-व्याख्यान तैयार करने की प्रक्रिया में जैनेन्द्र के चिन्तन पक्ष पर विचार करते हुए मुझे लगा कि इस बारे में मुक्तिबोध और अज्ञेय, दोनों ही जैनेन्द्र की विशिष्ट तर्क-प्रणाली को पहचानने में कहीं कुछ भूल कर रहे हैं।

क्या इस का कारण यह है कि कार्ल मार्क्स और एम. एन. राय की वैज्ञानिकता के आग्रह में दीक्षित मानसिकता में उस अन्तःप्रज्ञात्मक चिन्तन के लिए ग्राह्यता हो ही नहीं सकती थी ? दोनों ही शायद यह मानते हैं कि एक साहित्यिक रचना तो व्यवस्थित चिन्तन के बिना भी महान् हो सकती है—बल्कि शायद व्यवस्थित चिन्तन उस के अनुभूति पक्ष को कुछ कमज़ोर ही करता होगा—लेकिन विचार के लिए तो एक वैज्ञानिक मानसिकता की कड़ी दीक्षा से गुज़रना आवश्यक है जो उन जैनेन्द्र में नहीं हो सकती जो स्वयं की *बुद्धि*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

से दुश्मनी घोषित करते हैं। शायद इसी कारण एम. एन. राय महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व के बड़प्पन और उन की नैतिक महानता को स्वीकार करते हुए भी उन्हें *इर्रेशनल* मानते रहे। आज भी अकादमिक पद्धतियों में विश्वास करने वाले ऐसे बहुत-से विद्वान मिल जाते हैं जो गाँधी या विनोबा को अकादमिक अर्थों में चिन्तक मानने से इनकार कर दें, क्यों कि वे रूढ़ दार्शनिकों की तरह किसी पद्धति का निर्माण करते नहीं दिखायी देते।

मुझे लगता है कि जिन कारणों से विनोबा को अकादमिक क्षेत्रों में चिन्तक के तौर पर महत्त्व नहीं दिया जाता, वही कारण जैनेन्द्र के चिन्तक पक्ष को ख़ारिज करने के पीछे रहा होगा। अन्यथा, जैनेन्द्र के चिन्तन की अपनी सुदृढ़ दार्शनिक पृष्ठभूमि है और उस के आधार पर व्यक्ति और समाज के लिए एक तलस्पर्शी मूल्यमीमांसा भी वह प्रस्तुत करते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि जिस जैनेन्द्र को रहस्यवादी अर्थों में आध्यात्मिक कहा जाता है, वह सृष्टि की व्याख्या के विकासवादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और यह भी मानते हैं कि *अन्यथा समय व्यर्थ ठहरेगा। सब अर्थ ही नष्ट हो जायेगा।* वह यह भी स्वीकार करते हैं कि व्यक्तिगत चेतना या आत्मा *विकासशील* है। जो लोग बुद्धि को ही *अन्तिम सर्वशक्तिमान तत्त्व* मानते हैं, उन्हें भी जैनेन्द्र ग़लत नहीं मानते, लेकिन तब बुद्धि का आधार जीवन को मानना होगा। जीवन ही है जो निरन्तर है और नये-नये रूपों में जन्म लेता है। जैनेन्द्र इस तरह पुनर्जन्म के सिद्धान्त की एक नयी व्याख्या करते हैं, जिस में *हर पत्ता मर कर फिर-फिर वृक्ष पर नयी कोंपल के रूप में जन्म* नहीं लेता बल्कि *वृक्ष ही प्रतिवर्ष नवजन्म लेता और नये पात खिला जाता है।* इस रूपक में जैनेन्द्र की भाषा एक कवि की लगती है, और उस में एक गहरे सत्य की झलक है, जो व्यक्ति के पुनर्जन्म की धारणा से अधिक तर्कसम्मत है। इसी के आधार पर जैनेन्द्र अपनी सामाजिक दृष्टि का विकास भी करते हैं। उन्हीं के शब्दों में : *समाज और जगत् हम व्यक्तियों के जीने-मरने के द्वारा अपने को सिद्ध और सम्पन्न कर रहा है, यह मानना क्रमशः अधिक सुन्दर और सार्थक लगता जाता है। जन्म-मरण व्यक्ति भोगता हो, लेकिन इस भोग के द्वारा मानो वह समष्टि-लीला को ही व्यक्त और समृद्ध कर रहा होता है। व्यक्ति अपनी स्वयंसिद्धि में ही साध्य का साधन है, यह मान सकें तो दृष्टि हमारी बदल जायेगी और शायद विचार के लिए सम्यक् सन्दर्भ मिल जायेगा।*

हमारी परम्परा में पुनर्जन्म की अवधारणा को कर्मफल की अवधारणा के साथ जोड़ कर देखा जाता रहा है। जैनेन्द्र का कहना है कि जब हम वैयक्तिक जीवन और चेतना को व्यापक जीवन या जीवन मात्र के साथ जोड़ कर देखते हैं तो न केवल व्यक्ति और व्यक्ति-कर्म की अहम्मन्यता घटती है, बल्कि वह समष्टि जीवन के साथ जुड़ जाता है और इस जुड़ जाने से वह अधिक *विराट्* और *बृहत्* हो जाता है। जैनेन्द्र का तर्क है कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति *पूरी इकाई* या घटक है। वह सवाल करते हैं कि क्या ऐसा माना जा सकता है क्यों कि *सम्बन्धों से शून्य कोई नहीं है और समस्त कर्म*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्व-परता या परस्परता में से उत्पन्न होता है—कोई कर्म बिना अन्तस्सम्बन्ध के सम्भव ही नहीं होता। इस प्रकार, जैनेन्द्र कर्म और उस के फल की अवधारणा को भी व्यापक कर देते हैं क्यों कि, उन के अनुसार, परस्परता के सन्दर्भ के बिना *विचार प्रतिगामी बनेगा और मुक्ति में खोलने के बजाय बन्धन में डालेगा।*

इसी लिए जैनेन्द्र के लिए परस्परता में होना ही संस्कृति है और अहं-केन्द्रित होना विकृति। हम जितना इस अहं को मिटा पाते हैं, उतना ही संस्कृत होते जाते हैं—*हम अपने को जगत् का केन्द्र मान कर जीते हैं, यह है विकृति। हम जगत् को शून्य भाव से जियें, यह होगी संस्कृति।* और अपनी इस तात्त्विक परिभाषा की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं *जब हम अपने को केन्द्र में मानते हैं तो हिंसा और शोषण बढ़ता है जब कि, इस के विपरीत, जब हमारे लिए सामने का व्यक्ति प्रधान है यह संस्कृति की दिशा की साधना होगी। संक्षेप में, दूसरे के कल्याण की दिशा में ही संस्कृति है।*

यह हिन्दी आलोचना की विडम्बना ही है कि इतनी गहरी और व्यापक सामाजिक दृष्टि वाले विचारक को निन्दात्मक ध्वनियों में व्यक्तिवादी या रहस्यवादी कह कर उस के विचारों को उपेक्षणीय घोषित किया गया, जब कि जैनेन्द्र स्पष्ट कहते हैं कि *जहाँ 'मैं' प्रधान हूँ और दूसरा मेरे प्रयोजन की अपेक्षा में ही है, वहाँ का समस्त कर्म संस्कृतिमूलक न होने से व्यर्थ और अनिष्ट कर्म है।*

दरअस्ल, जैनेन्द्र की आध्यात्मिकता कबीर की आध्यात्मिकता की परम्परा में है, क्यों कि कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति में से ही उन का समानता का बोध निकलता है—समाज की किसी ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या में से नहीं। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है—और यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—कि कबीर के लिए जहाँ स्त्री *नरक का द्वार* है वहीं जैनेन्द्र के लिए मुक्ति का। उन के कथा-संसार में स्त्री-चरित्रों के माध्यम से ही अहंशून्यता की साधना सम्भव होती है।

अपने को अहंशून्य और अन्य को प्रधान बनाना ही वह प्रेरणा है जो जैनेन्द्र की मूल्यमीमांसा या नीति-दर्शन का स्रोत है और उस का व्यावहारिक रूप है प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसा। यह विचित्र है कि व्यक्ति, समाज, राज्य, अर्थनीति और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों जैसे ठोस विषयों के गहरे विवेचन के बावजूद उन्हें रहस्यवादी ही नहीं, निन्दात्मक अर्थों में नियतिवादी या यथास्थितिवादी भी कहा गया है। जो चिन्तक समाज की वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हो और एक अहिंसक समाज के आदर्श के लिए प्रेरित कर रहा हो, उसे यथास्थितिवादी कैसे कहा जा सकता है? इसी तरह, जैनेन्द्र जहाँ *नियति* या विधि अथवा *विधान* पद का प्रयोग करते हैं, वहाँ इन शब्दों को वह ऐसा अर्थ देते हैं जिस में मानव-कर्तृत्व सम्मिलित है। वह मानते हैं कि कोई भी विकास या इतिहास बिना मानव-चेष्टा के सम्भव नहीं है अर्थात् *यदि कोई नियम काम कर रहा हो, तो वह प्राणियों के भीतर से ही काम कर पाता है, दूसरा उपाय उस के पास नहीं है। और यदि हम चेतन प्राणी हैं, तो विधान के हाथ में निश्चेतन उपकरण बन कर नहीं रह जाते, बल्कि अखण्ड चित्-*

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रक्रिया में सहभागी होते हैं। ....भाग्य जब और जहाँ तक हमारा है, हम उस के विधाता भी क्यों नहीं हैं। ....सब 'होना' हमारे वश में है, भाग्य के वश में बिलकुल नहीं।

सच तो यह है कि हिन्दी में जैनेन्द्र और कुछ सीमा तक अज्ञेय के अलावा शायद ही कोई लेखक होगा जिस की लेखकीय जिज्ञासाओं का दार्शनिक जिज्ञासाओं से इतना गहरा सम्बन्ध हो। मुझे मुक्तिबोध द्वारा चिन्तक जैनेन्द्र को ख़ारिज करना अधिक अस्वाभाविक नहीं लगता क्यों कि जिस तर्क-पद्धति में मुक्तिबोध का विश्वास था, वह अन्तःप्रज्ञात्मक भाषा को स्वीकार नहीं कर सकती। लेकिन *संवत्सर* और *अपने-अपने अजनबी* लिखने वाले अज्ञेय भी चिन्तक जैनेन्द्र की पद्धति को स्वीकार नहीं कर पाते, इस पर दुख होता है— यद्यपि आश्चर्य नहीं, क्यों कि राय की तर्क-पद्धति का प्रभाव अज्ञेय पर भी रहा ही। लेकिन इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि तर्क-पद्धति के अस्वीकार के बावजूद अज्ञेय की तत्त्वमीमांसा और मूल्यमीमांसा हिन्दी लेखकों में शायद जैनेन्द्र के सर्वाधिक निकट है—वैसे ही जैसे अपनी ज्ञान-मीमांसा के भिन्न होने के बावजूद एम. एन. राय अपनी मूल्यमीमांसा और उस के क्रियान्वयन की प्रक्रियाओं में गाँधी और विनोबा के सर्वाधिक निकट कहे जा सकते हैं। जैनेन्द्र का चिन्तन गहरे विश्लेषण और अध्यवसाय की माँग करता है। क्या हिन्दी का विचार-जगत् इस माँग को सुन रहा है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यदि मार्क्सवाद विज्ञान है

बुद्धदेव भट्टाचार्य पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री के रूप में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के राजनीतिक नेतृत्व में तो महत्त्वपूर्ण हैसियत रखते ही हैं, साथ ही, बल्कि राजनीतिक नेतृत्व से भी पहले—पार्टी के बौद्धिक नेतृत्व में उन की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है। उन की गिनती पार्टी के प्रमुख सिद्धान्तकारों में की जाती है। इस लिए उन के वक्तव्यों पर केवल राजनीतिक व्यावहारिकता की दृष्टि से नहीं, बल्कि सैद्धान्तिक तात्त्विकता की दृष्टि से भी विचार किए जाने की ज़रूरत है। इण्डोनेशिया और सिंगापुर की अपनी यात्रा के बाद एक संवाददाता सम्मेलन में उन्होंने जो वक्तव्य दिया, उसे केवल अपने राज्य के औद्योगिक विकास के लिए येन-केन-प्रकारेण साधन जुटाने के लिए चिन्तित मुख्यमन्त्री के नज़रिए से देखे जाने पर तो कोई विशेष विवादास्पद नहीं माना जाना चाहिए, लेकिन एक मार्क्सवादी सिद्धान्तकार के नज़रिए से यह वक्तव्य विशेष विश्लेषण की माँग करता है।

इस वक्तव्य में बुद्धदेव भट्टाचार्य ने यह स्वीकार किया है कि उन्हें *पूँजी के रंग* से कोई सरोकार नहीं है, इस लिए तानाशाही के समर्थक पूँजीपतियों द्वारा राज्य में *पूँजी-निवेश* का स्वागत करने में उन्हें कोई ऐतराज़ नहीं होगा। यहाँ तक तो बात समझ में आती है क्यों कि साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इस के बावजूद वह काले धन या तस्करी से कमाये गये धन को स्वीकार नहीं करेंगे—हालाँकि यह वैसे भी स्पष्ट है कि काले धन का पूँजीगत निवेश आसानी से सम्भव नहीं होता।

लेकिन इस वक्तव्य में उन्होंने एक सिद्धान्त-कथन करते हुए यह चेतावनी भी दी है कि यदि मार्क्सवादी अपने में सुधार नहीं करते—यहाँ सुधार से तात्पर्य *सैद्धान्तिक सुधार* से है—और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कुछ करके नहीं दिखाते तो उन का नष्ट हो जाना निश्चित है : *रिफॉर्म, परफॉर्म ऑर पेरिश* उन का तर्क है—और यह एक वाजिब तर्क लग सकता है कि मार्क्सवाद कोई मतान्धता—डॉग्मा—नहीं, बल्कि विज्ञान है और इस लिए उसे अपना सत्य तथ्यों से बरामद करना होगा। यह सच है कि विज्ञान कभी भी मतान्ध नहीं हो सकता और उसे तथ्यों की रोशनी में अपने निष्कर्षों का पुनरीक्षण करने और उन में संशोधन-परिवर्तन के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अर्थ ही यह है कि हम किसी भी सिद्धान्त को अन्तिम नहीं मान सकते और यदि हमें नये तथ्य मिलते हैं तो उन की रोशनी में अपने को सुधारना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता बन जाता है। इस लिए बुद्धदेव भट्टाचार्य के इस कथन से भी सैद्धान्तिक स्तर पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए—यद्यपि यह कथन उन्होंने कुछ दशक पूर्व किया होता तो उन्हें बड़ी आसानी से संशोधनवादी आदि कह कर पार्टी से बाहर का रास्ता दिखाया जा सकता था।

लेकिन, इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि पूँजीवादी आधार और उस पर आधारित अधिरचना से सम्बन्धित वे कौन-से नये तथ्य हैं जिन की जानकारी बुद्धदेव बाबू को हुई है और जिन के कारण वे मार्क्सवाद की सैद्धान्तिकता में परिवर्तन अवश्यम्भावी मानते हैं। मार्क्सवाद पूँजीवाद का आधार आधुनिक तकनीकी अर्थात् उत्पादन के आधुनिक उपकरणों से प्रसूत उत्पादन-सम्बन्धों को मानता है। इन उत्पादन-सम्बन्धों में उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की वजह से सर्वहारा का शोषण सम्भव होता है और इस शोषण को समाप्त करने के लिए उत्पादन के साधनों पर से निजी स्वामित्व को समाप्त कर उस के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना आवश्यक है। क्या नये अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवाद अथवा भूमण्डलीकरण वाली अर्थ-व्यवस्था ने कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत किए हैं जिन की रोशनी में इस केन्द्रीय सिद्धान्त में कोई संशोधन की आवश्यकता आन पड़ी है? क्या इस व्यवस्था में निजी स्वामित्व शोषण का बुनियादी कारण नहीं बना रहा है? क्या यह अर्थव्यवस्था पुराने पूँजीवाद की तुलना में श्रमिकों और वंचित वर्गों के प्रति अधिक उदार है?

क्या इस अर्थव्यवस्था की आधारभूत उत्पादन-पद्धति अर्थात् तकनीकी ने कुछ ऐसे नये प्रकार के उत्पादन-सम्बन्धों को पैदा कर दिया है जिन के चलते निजी और वह भी बहुराष्ट्रीय पूँजी-निवेश शोषण-समाप्ति की ऐतिहासिक प्रक्रिया को तेज़ करने लगा है और इस लिए अब निजी स्वामित्व को समाप्त करने के बजाय बहुराष्ट्रीय निजी स्वामित्व को प्रोत्साहन दिए जाने की ज़रूरत पैदा हो गयी है? क्या यह *वन स्टेप फार्वर्ड, टू स्टेप्स बैक* का कोई नया संस्करण प्रस्तावित करना है या कि यह मान लिया गया है कि शोषणविहीन समाज सम्भव नहीं है और इतिहास की गति उस से विपरीत दिशा की ओर ही जायेगी और उस के साथ हो जाने में ही वैज्ञानिकता और प्रगतिशीलता है? अर्थात् मार्क्सवादी पार्टियों को अपने में परिवर्तन कर स्वयं को बुर्जुआ हितों की संरक्षक पार्टियों में तब्दील कर लेना चाहिए क्यों कि अब राजनीतिक दलों का दायित्व किसी नये समाज की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रचना नहीं, बल्कि बेहतर प्रबन्धन मात्र रह गया है। क्या बुद्धदेव भट्टाचार्य फुकुयामा के समर्थक हो गये हैं, जिस के अनुसार बुर्जुआ संसदीय लोकतन्त्र में आकर इतिहास अपनी अन्तिम गति प्राप्त कर चुका है? और यदि यह सब नहीं हुआ है तो किन तथ्यों की रोशनी में मार्क्सवादी विज्ञान को अपना नया सत्य बरामद करना है?

दरअस्ल—और यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि—सोवियत समाजवादी व्यवस्था के पतन ने अधिकतर मार्क्सवादी सिद्धान्तकारों को किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया है और इस विफलता के चलते एक मनोवैज्ञानिक दबाव में वे पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों में यत्किंचित सुधारों अर्थात् पूँजीवादी व्यवस्था अपनाकर रोज़गार के अवसरों और सकल उत्पादन तथा आय में वृद्धि को ही क्रान्ति का स्थानापन्न मानने को मजबूर हो गये हैं। इस मनोवैज्ञानिक दबाव के कारण ही वे उन तथ्यों की अवहेलना कर देते हैं जिन से उन्हें उस सत्य की प्राप्ति हो सकती है—जो न केवल उन के मूल्यगत आग्रहों की पुष्टि करता, बल्कि तदनुसार नीतिगत परिवर्तन शोषणमुक्त समाज के लिए आवश्यक ऐतिहासिक प्रक्रिया को तेज़ कर सकता है।

यह तथ्य इस स्वीकार में निहित है कि जिस तकनीकी अर्थात् उत्पादन-पद्धति से पूँजीवाद का विकास सम्भव होता है, उसी के आधार पर शोषणमुक्त या समतामूलक समाज का विकास सम्भव नहीं है। मार्क्सवाद की एक बुनियादी मान्यता यह रही है कि उत्पादन-पद्धति के आधार पर उत्पादन-सम्बन्धों तथा उस के अनुसार अधिरचना अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अधिरचना का विकास होता है। इस लिए केवल अधिरचनागत परिवर्तन अर्थात् राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेने से वांछित लक्ष्य नहीं पाया जा सकता। इस के लिए राजनीतिक सत्ता की मदद से उत्पादन-पद्धति और सम्बन्धों में परिवर्तन करना ज़रूरी होगा। यदि उत्पादन-पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो राजनीतिक सत्ता का इस्तेमाल कुछ सुधारात्मक कार्यक्रम लागू करने में तो किया ही जा सकता है—यदि नीयत में कोई खोट न हो—लेकिन उस से उत्पादन-सम्बन्धों और सामाजिक अधिरचना में कोई बुनियादी परिवर्तन घटित नहीं हो सकता। इस का तात्पर्य यह है कि उत्पादन-सम्बन्धों में परिवर्तन के लिए हमें एक वैकल्पिक उत्पादन-पद्धति के विकास की दिशा में सोचना और अग्रसर होना होगा।

दूसरे शब्दों में, इस का मतलब यह है कि हमें ऐसी तकनीकी की ज़रूरत है जिस के लिए बड़े और निजी पूँजी-निवेश की अनिवार्यता न रहे। ऐसी तकनीकी, जिस के आधार पर विकसित उत्पादन-सम्बन्धों में शोषण सम्भव ही न रहे। मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार शोषणमुक्त उत्पादन-सम्बन्ध ही एक समतामूलक और स्वतन्त्रता को पुष्ट करने वाली अधिरचना को सम्भव कर सकते हैं—यानी एक शोषणमुक्त अर्थव्यवस्था के बिना दमन और उत्पीड़न से मुक्ति भी सम्भव नहीं है, पर इस के लिए एक वैकल्पिक तकनीकी अर्थात् उत्पादन-पद्धति का विकास अनिवार्य शर्त है।

महात्मा गाँधी जब *स्वदेशी* की बात करते हैं तो वह, दरअस्ल, ऐसी ही वैकल्पिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तकनीकी का प्रस्ताव कर रहे होते हैं, जिस के लिए बड़े निजी या बहुराष्ट्रीय पूँजी-निवेश की ज़रूरत ही नहीं रह जाती और जिस के आधार पर वैकल्पिक उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना का विकास सम्भव हो सकता है। स्वदेशी कोई संकीर्ण राष्ट्रवादी प्रत्यय नहीं है। यह ऐसी प्रौद्योगिकी है, जिस का विकास स्थानीय स्तर पर किया जा सकता है और जिस में उत्पादन के उपकरणों पर वास्तविक उत्पादक का स्वामित्व रहने के कारण किसी तरह का आर्थिक और तत्प्रसूत राजनीतिक केन्द्रीकरण सम्भव ही नहीं रहता। किसी मध्यवर्ती विपणन संस्थान और उस के केन्द्रीकृत प्रबन्धन की भी इस में कोई ज़रूरत नहीं रहती, क्यों कि अधिकांशतः उत्पादक और उपभोक्ता के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस लिए यदि मार्क्सवाद विज्ञान है—जिस का दावा सभी मार्क्सवादी करते हैं—तो उसे अपने ही सिद्धान्त के गाँधीवादी प्रतिफलन को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। पूँजीवादी तकनीक या बड़े उद्योगों और उन पर आधारित उत्पादन-सम्बन्धों के आधार पर शोषण-मुक्ति का स्वप्न ध्वस्त हो चुका है। इस ऐतिहासिक तथ्य से यदि हम कुछ सीख सकते हैं तो यही कि विकेन्द्रीकृत उत्पादन-पद्धति के बिना शोषण-मुक्त उत्पादन-सम्बन्ध सम्भव नहीं हैं। इस लिए विकल्प बहुराष्ट्रीय पूँजी को आमन्त्रित करना नहीं, बल्कि मानवीय श्रम—और श्रम भी पूँजी ही तो है—के निवेश पर आधारित ऐसी तकनीकी का विकास है, जिस पर बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद के नियन्त्रण की सम्भावना ही न रहे। मार्क्सवाद के परिष्कार का रास्ता गाँधी से होकर गुज़रता है, यदि मार्क्सवाद मतान्धता नहीं, विज्ञान है तो।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

संवेदनात्मक सत्याग्रह है साहित्य

साहित्य पर विभिन्न विचार-दृष्टियों के प्रभाव की बात अक्सर की जाती है और उसी सन्दर्भ में गाँधी-विचार के प्रभाव की बात भी। एक संगोष्ठी का केन्द्रीय विषय था *हिन्दी साहित्य में गाँधी-दर्शन और प्रतिरोध की चेतना*—जिस का आधार-वक्तव्य मुझे प्रस्तुत करना था।

विषय पर सोचते हुए अचानक मेरे मन में एक बहुत ही सरल, मगर अब तक अलक्षित बात कौंध गयी। मुझे लगा कि साहित्य में गाँधी के प्रभाव की तलाश तो बहुत स्थूल बात है। मेरी यह मान्यता रही है कि सच्चा साहित्य कभी किसी दर्शन या मतवाद का अनुयायी नहीं होता—बल्कि वह तो स्वयं सत्य की तलाश की एक स्वायत्त प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में वह समाज में व्याप्त सभी प्रकार के विचारों और स्थितियों के साथ अन्तःक्रिया करता है और उस के प्रमाण आसानी से उस में तलाशे ही जा सकते हैं। लेकिन जो बात मुझे कौंधी वह यह थी कि गाँधी-दृष्टि का साहित्य से रिश्ता कुछ भिन्न है। उसे साहित्य पर अन्य प्रकार के विचारों के प्रभाव से अलग—कुछ भिन्न स्तर पर समझा जाना चाहिए।

दरअस्ल, गहराई से देखें तो साहित्य-दृष्टि और गाँधी-दृष्टि में एक अद्भुत साम्य है—कहें कि एक अन्तस्सूत्र है— क्यों कि दोनों की प्रक्रिया कई बातों में लगभग समान है। गाँधी-दृष्टि को सामान्यतः हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के बतौर समझा जाता है और इस हृदय-परिवर्तन का माध्यम या साधन विचार के साथ-साथ स्वेच्छापूर्ण कष्ट-सहन द्वारा हमारे नैतिक संवेदन को जाग्रत् करना है। यह नैतिक संवेदन ही हमें अन्याय के प्रतिरोध और पीड़ित के साथ के लिए प्रेरित और सक्रिय करता है। मुझे लगा कि क्या साहित्य की प्रक्रिया भी कमोबेश यही नहीं है। जब यह कहा जाता है कि किसी उत्कृष्ट साहित्यिक कृति को पढ़ कर हम ठीक वही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं रह जाते जो उसे पढ़ने से पहले थे तो क्या यह इसी बात का स्वीकार नहीं है कि साहित्य हमारे मन को बदलता है, हमारे संवेदन का संस्कार करता है और स्पष्ट है कि इस का तात्पर्य हमारे नैतिक बोध का जाग्रत् होना भी है।

यह भी स्पष्ट है कि साहित्य यह कार्य कष्ट-सहन की प्रक्रिया के माध्यम से करता है। जब हम किसी कृति में किसी निर्दोष या नेक चरित्र को किसी अत्याचार, उत्पीड़न या परिस्थितियों के दबाव तले कुचला जाता हुआ देखते हैं तो हमारे मन में उस परिस्थिति से असन्तोष पैदा होता है और उसे बदले जाने की ज़रूरत स्वतः ही अनुभव होने लगती है। त्रासदी की विशेषता ही इस बात में है कि वह नायक या किसी नेक चरित्र को न केवल कष्ट-सहन की प्रक्रिया से गुज़ारती है, बल्कि अन्त में भी उसे पराजित, विफल या मृत्यु के मुख में जाते हुए दिखाने के बावजूद अपने पाठक के मन में हताशा का भाव पैदा करने के बजाय अन्याय या पाप के विरुद्ध संघर्ष के भाव को सक्रिय करती है। ईसा, हुसैन या गाँधी की शहादत का जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है, कुछ उसी तरह का प्रभाव सीता या द्रौपदी या अन्ना कैरेनिना जैसे चरित्रों के साथ घटित त्रासद स्थितियों के वर्णन का भी पड़ता है। अरस्तू का तो मन्तव्य ही यही है कि त्रासदी हमारा *कैथार्सिस* करती है यानी हमारे भावों को शुद्ध करती है। यह प्रकारान्तर से नैतिक संवेदन की जागृति ही तो है। भारतीय काव्यशास्त्र में जब साहित्य का प्रयोजन रसानुभूति के साथ-साथ *शिवेतरक्षतये* कहा गया तो उस में भी इस बात का स्वीकार अन्तर्संकेतित है कि साहित्य की प्रक्रिया अशिव अर्थात् अनैतिक के क्षय और नैतिक संवेदन के उदय की प्रक्रिया है। इस अर्थ में रसानुभूति भी एक नैतिक अनुभूति है क्यों कि *अन्य* के *आत्म* में रूपान्तरित हुए बिना किसी भी प्रकार की अनुभूति सम्भव ही नहीं है, और सम्पूर्ण नैतिकता का मूल स्रोत *अन्य* का *आत्म* हो जाना है।

जिस प्रकार साहित्य में *अन्य* आत्मवत् हो जाता है, उसी प्रकार गाँधी दृष्टि भी किसी को *अन्य* नहीं मानती। अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रक्रिया को भी गाँधी *प्रेम* या अहिंसा से संचालित मानते हैं क्यों कि यह प्रेम ही है जो *अन्य* के आत्म होने की अनुभूति का व्यावहारिक रूप है। उत्कृष्ट साहित्य जिस प्रकार बुरे से बुरे चरित्र के प्रति भी हमारे मन में एक नैतिक सहानुभूति का बोध अंकुरित करता है, उसी प्रकार गाँधी-दृष्टि भी सत्याग्रह की प्रक्रिया में न केवल प्रतिपक्षी के प्रति पूरी सहानुभूति रखती है, बल्कि आत्म-कष्ट द्वारा उस के मनुष्यत्व को जगाना चाहती है—उसे व्यक्ति-रूप में नष्ट करना नहीं—क्यों कि वह *अन्य* नहीं *आत्म* ही है और उसे नष्ट करने का तात्पर्य एक प्रकार की नैतिक आत्महत्या है—क्यों कि ऐसा करना उस प्रेम की हत्या है जो गाँधी के सत्याग्रह का संवेदनात्मक नैतिक आधार है।

इस लिए यदि गाँधी-भाषा में कहें तो साहित्य संवेदनात्मक सत्याग्रह है। इसी तरह साहित्य की भाषा में कहें तो गाँधी का सत्याग्रह एक क़िस्म की सौन्दर्यानुभूति का सक्रिय रूपायन है। सत्याग्रह इस लिए केवल प्रतिरोध नहीं, बल्कि प्रेमानुभूति का, रसानुभूति का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ही एक प्रकार है—और यह गाँधी-दृष्टि की ही अपनी विशिष्टता है क्यों कि अन्य क़िस्म के प्रतिरोध में प्रतिपक्षी सदैव *अन्य* ही रहता है, वह आत्म में रूपान्तरित नहीं होता। ऐसा लगता है कि गाँधी-दृष्टि की प्रतिरोध की चेतना और प्रक्रिया मानो साहित्य की रचना-प्रक्रिया और सम्प्रेषण-प्रक्रिया द्वारा संस्कारित है और इसी तरह साहित्य की प्रक्रिया मानो गाँधी-दृष्टि के सत्याग्रह की प्रक्रिया का एक कृति में रूपायन है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि कोई कृति अपने सन्देश में हमें हिंसक प्रतिरोध के लिए भी प्रेरित करती है तो ऐसा भी वह *हृदय-परिवर्तन* की प्रक्रिया के माध्यम से ही करती है, जिस का दार्शनिक तात्पर्य यही हुआ कि किसी कृति का—इलिच से शब्द उधार लेकर कहें तो—*घोषित सन्देश* यदि हिंसा की ओर जाता दिखायी भी देता है तो भी उस का *गुप्त सन्देश* अहिंसा या हृदय- परिवर्तन ही है, क्यों कि अन्ततः हिंसा को स्वीकार्य बनाने के लिए भी वहाँ अहिंसक प्रक्रिया का ही सहारा लिया जा रहा है। ऐसा करना स्वयमेव अहिंसा की वरेण्यता को स्वीकार करना है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि ऐसा करने वाला परिस्थिति को बदलने के लम्बे संघर्ष से घबरा कर उसे व्यवहार में अहिंसा की विफलता मान लेता है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर अहिंसा की वरेण्यता को मानते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर हिंसा के रास्ते सफलता पाना चाहता है। परिस्थितिजनित क्रोध उस में प्रतिशोध का भाव पैदा कर देता है।

दरअस्ल, हिंसा और हिंसा के संघर्ष में जो हिंसा सफल होती है, वह अनिवार्यतः सही पक्ष की सफलता हो, यह आवश्यक नहीं है। इस संघर्ष में सफलता केवल यही प्रमाणित करती है कि अधिक हिंसक पक्ष कौन-सा है, न कि यह कि सत्य या न्याय का पक्ष किस का है। इस के बरक्स, यह ठीक ही कहा गया है कि गाँधी-दृष्टि से सत्याग्रही कभी विफल नहीं होता क्यों कि वह यदि कभी तात्कालिक सफलता हासिल न कर सके तो भी वह अपने नैतिक संवेदन के बोध में, *अन्य* को *आत्म* में रूपान्तरित करने में और इस प्रकार प्रेम की रसानुभूति में तो सार्थक होता ही है और यही तो साहित्य की प्रक्रिया की सार्थकता है। इस लिए क्या यह कहा जाना ग़लत होगा कि हिन्दी साहित्य ही नहीं, साहित्य मात्र की प्रक्रिया सत्याग्रह की प्रक्रिया है और इस प्रकार अन्याय के प्रतिरोध की चेतना का ही साहित्यिक रूपायन है?

SPS Central Library
Acc No. ....
Srinagar

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नन्दकिशोर आचार्य

31 अगस्त, 1945 को बीकानेर में जन्मे अनेक विधाओं में सृजनशील श्री आचार्य को मीरा पुरस्कार, बिहारी पुरस्कार, भुवनेश्वर पुरस्कार, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी एवं भुवालका जनकल्याण ट्रस्ट द्वारा सम्मानित किया गया है। महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के संस्कृति विद्यापीठ में अतिथि लेखक रहे हैं।

अज्ञेय द्वारा सम्पादित *चौथा सप्तक* के कवि नन्दकिशोर आचार्य के *जल है जहाँ, शब्द भूले हुए, वह एक समुद्र था, आती है जैसे मृत्यु, कविता में नहीं है जो, रेत राग* तथा *अन्य होते हुए* काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं। *रचना का सच, सर्जक का मन, अनुभव का भव, अज्ञेय की काव्य-तितीर्षा, साहित्य का स्वभाव* तथा *साहित्य का अध्यात्म* जैसी साहित्यालोचना की कृतियों के साथ-साथ आचार्य *देहान्तर, पागलघर* और *गुलाम बादशाह* जैसे नाट्य-संग्रहों के लिए भी चर्चित रहे हैं। जापानी ज़ेन कवि रियोकान के काव्यानुवाद *सुनते हुए बारिश* के अतिरिक्त आचार्य ने जोसेफ ब्रॉदस्की, ब्लादिमिर होलन, लोर्का तथा आधुनिक अरबी कविताओं का भी हिन्दी रूपान्तरण किया है। एम. एन. राय के *न्यू ह्यूमेनिज्म* (नवमानववाद) तथा *साइंस एण्ड फिलासफि* (विज्ञान और दर्शन) का भी हिन्दी अनुवाद उन्होंने किया है।

रचनात्मक लेखन के साथ नन्दकिशोर आचार्य को अपने चिन्तनात्मक ग्रन्थों के लिए भी जाना जाता है। *कल्चरल पॉलिटी ऑफ हिन्दूज* और *दि पॉलिटी इन शुक्रनीतिसार* (शोध), *संस्कृति का व्याकरण, परम्परा और परिवर्तन* (समाज-दर्शन), *आधुनिक विचार और शिक्षा* (शिक्षा-दर्शन), *मानवाधिकार के तकाजे, संस्कृति की सामाजिकी* तथा *संस्कृति की सभ्यता* के साथ गाँधी-चिन्तन पर केन्द्रित उन की पुस्तक *सभ्यता का विकल्प* ने हिन्दी के बौद्धिक जगत का विशेष ध्यान आकर्षित किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पूर्व संग्रहों पर

नन्दकिशोर आचार्य असाधारण प्रतिभा के धनी हैं। उन में क्यों कि कहीं कोई कुण्ठा नहीं, कहीं कोई दुराव नहीं, इसी लिए उन की लेखनी में तेज है, गहन से गहन अनुभूतियों को वाणी देने के लिए उन के पास शब्दों की अगाध सम्पदा है, और है एक तरह की प्रज्ञा, जो आज के युग में विरल होती जा रही है।

—कैलाश वाजपेयी

कवि–विचारक नन्दकिशोर आचार्य को पढ़ना खुली हवा में साँस लेने जैसा अनुभव है। **—मस्तराम कपूर**

अपने लेखों में वे प्रायः शुद्ध तार्किक बुद्धि से ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे हैं जो राष्ट्र के भविष्य के लिए मार्गदर्शक एवं शुभ माने जा सकते हैं। आज हम जिस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, उस के अन्तर्विरोधों पर लेखक ने गहराई से चिन्तन कर के अच्छा प्रकाश डाला है।

—दयालचन्द्र सोनी

निर्भीक तर्क–वितर्क और विवेकजन्य निष्कर्ष नन्दकिशोर आचार्य की खास पहचान बन चले हैं। कुतर्क पर वे उसी तरह भारी पड़ते हैं जिस तरह अविचारित, आयातित, उधार की बुद्धि पर..... *परम्परागत* मान कर स्वीकृत या बहिष्कृत धारणाओं को नये सिरे से जाँच कर, हमारे समय और स्वभाव के अनुकूल सिद्धान्त–सूत्र निकालने की भी वे कोशिश करते हैं जो एक बड़ी कोशिश है।

—गिरधर राठी

विज्ञान, अध्यात्म, स्वतन्त्रता और इतिहास जैसी अवधारणाओं को नन्दकिशोर आचार्य ने जिस खूबी के साथ हमारे दैनिक जीवन की जरूरतों के साथ जोड़ा है, वह विद्वान लेखक की एक असाधारण उपलब्धि है....उन के गद्य में एक खास तरह की वैचारिक ताज़गी और वैज्ञानिक लय के दर्शन होते हैं।

—राजकिशोर

नन्दकिशोर आचार्य उन गिने–चुने चिन्तनशील लेखकों–विचारकों में से हैं जिन्होंने सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन को गम्भीरता से समझने का प्रयास किया है....उन्होंने सामान्य नागरिक को केन्द्र में रख कर अहिंसा, लोकतन्त्र, राजनीतिक रिश्ते की आधार–भूमि को समझने–समझाने का प्रयास किया है। **—गणेश मन्त्री**

9788187482765

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE